# भारतीय-संस्कृति

## ऐतिहासिक अवलोकन

(भारत की प्राचीन, मध्यकालीन एवं अर्वाचीन संस्कृति का
आलोचनात्मक इतिहास)

## प्रथम भाग

(प्राचीन संस्कृति)

लेखक :

श्री मोहनलाल विद्यार्थी, एम० ए०,

**अध्यक्ष इतिहास विभाग, डी० ए० वी० कालेज, कानपुर**

प्रकाशक :

**मोतीलाल सुकुल**

नयागंज, कानपुर।

१९५४

प्रथम संस्करण

मूल्य दो रुपया

# विषय-सूची

पूज्य माँ मीरा के चरणों में—

माता जी, अरविन्द आश्रम, पाँडुचेरी

# पहला अध्याय

"संस्कृति" आधुनिक युग का अत्यन्त महत्वपूर्ण शब्द है। आजकल स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् भारतवर्ष में इस विषय पर लोगों का ध्यान आकर्षित होने लगा है, परन्तु महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली होने पर भी इस शब्द के अर्थ और व्याख्या के संबंध में विभिन्न प्रकार के मत पाये जाते हैं। देश, युग, सभ्यता और काल के अनुसार इस शब्द के अर्थ परिवर्तित होते रहते हैं। भारतवर्ष में "संस्कृति" शब्द "आँग्ल भाषा" के "Culture" शब्द के प्रतिनिधि के रूप में प्रयुक्त होने लगा है। पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार "संस्कृति" उस सामाजिक देन को कहते हैं जिसके अनुसार मनुष्य अपने जीवन को आधारित करता है, जिसकी नींव पर समाज सभ्यता की ओर अग्रसर होता है। मनुष्य की शिल्प कलाएँ उसके अस्त्र शस्त्र, उसका धर्म तथा तंत्र विद्या, उसकी आर्थिक उन्नति, उसकी कला कौशल---यह सब संस्कृति के अन्तर्गत आते हैं। अधिकतर पाश्चात्य विद्वान ऊँची संस्कृति तथा सभ्यता को पर्यायवाची शब्द समझा करते हैं और वे संस्कृति के वाह्य तत्वों पर अधिक बल देते हैं।

इसके विपरीत "पूर्व के विद्वान" संस्कृति के आभ्यांतरिक तत्वों पर अधिक बल देते हैं उनके अनुसार संस्कृति 'संस्कार' शब्द से सम्बन्धित है और वे संस्कारों के समाहार को संस्कृति कहते हैं। इस प्रकार "संस्कृति" मानवी जीवन के उन सब तत्वों के समाहार का नाम है जो धर्म और दर्शन से प्रारम्भ होकर कला-कौशल, समाज तथा व्यवहार, इत्यादि में अन्त होते हैं। यह संस्कृति व्यक्तिगत भी होती है और समष्टिगत भी। 'किसी समाज, जाति अथवा राष्ट्र के समस्त व्यक्तियों के उदात्त संस्कारों के पुंज का नाम उस समाज, जाति और राष्ट्र की संस्कृति है। उदात्त विचारों और संस्कारों में देशगत, राष्ट्रगत, जातिगत तथा समाजगत विशेषताएँ भी हो सकती हैं। और वही उस वर्ग की संस्कृति की विशेषताएँ समझनी चाहिए।"

भारतीय सभ्यता तथा इतिहास में आभ्यांतरिक तत्वों पर अधिक बल दिया गया है इनका सम्बन्ध धर्म या अध्यात्मिकता से है।

प्रसिद्ध भारतीय विद्वान् सी० पी० रामास्वामी अय्यर का कथन है "कि संस्कृति जीवन का एक दृष्टिकोण है।"

संस्कृति समष्टिगत अनुभवों से उत्पन्न होती है। एक ही जलवायु में पले, एक ही प्रकार के गिरि, नदी, निर्झर, सागर को देखने वाले, एक ही प्रकार के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सुख-दुख को भोगे हुए लोगों के चित्तों का झुकाव प्रायः एक सा होगा। इसका तात्पर्य यह है कि जिन लोगों की अनुभूतियाँ एक सी होंगी, उनका वाङ्मय भी एक या एक सा ही होगा। भारतीय सभ्यता में हिन्दुओं का बाहुल्य है अतः उनकी संस्कृति ही इस सभ्यता का आधार रही है अतएव इस पुस्तक में भी हम भारतीय संस्कृति के मुख्य आधार को उसी रूप में देखेंगे जिस रूप में हमारे देश के विद्वानों तथा दार्शनिकों ने देखा है। इस सम्बन्ध में यह विचारणीय प्रश्न है कि भारतीय संस्कृति के क्या आधार हैं। अपने दीर्घ अनुभव, तपःपूत ज्ञान और चिन्तन द्वारा भारत के आत्मदर्शी ऋषि इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि आत्मानुभव, आत्म साक्षात्कार, आत्मदर्शन ही मानव जीवन का परम पुरुषार्थ है, अतएव भारतीय संस्कृति की आधारशिला यह आत्म साक्षात्कार या आध्यात्मिकता है। योगिराज श्री अरविन्द जी लिखते हैं "संस्कृति अपने साधारणतः समझे जानेवाले अर्थों में मार्गदर्शक ज्योति नहीं हो सकती और न यह हमारे समस्त जीवन और कर्म के नियामक एवं समन्वयकारी सिद्धान्त का पता ही पा सकती है। संस्कृति को अगर भगवान की प्राप्ति करनी है तो उसे आध्यात्मिक संस्कृति बनना होगा। बौद्धिक सौन्दर्योपासक, नैतिक एवं व्यावहारिक शिक्षण की अपेक्षा अधिक ऊँची कोटि की वस्तु बनना होगा। तो फिर हमें पथप्रदर्शक प्रकाश तथा नियामक एवं समन्वयकारी सिद्धान्त कहाँ उपलब्ध होगा? इसका सर्वप्रथम उत्तर जो हमारे मन में आयेगा और जो एशिया के विचारकों नें दिया है, यह है कि वह प्रकाश और सिद्धान्त हमें सीधा धर्म में उपलब्ध होगा, क्योंकि धर्म मनुष्य के अन्दर की एक ऐसी प्रेरणा, भावना, प्रवृत्ति, एवं विधि व्यवस्था है जिसका लक्ष्य स्पष्ट-रूप में भगवान ही है, जब कि मनुष्य की अन्य सभी प्रवृत्तियाँ परोक्ष रूप में ही उन्हें अपना लक्ष्य बनाती प्रतीत होती हैं और जगत की बाह्य एवं अपूर्ण प्रतीतियों के पीछे चिरकाल भटक भटक कर ठोकर खाने के उपरान्त ही कहीं उन तक पहुँच पाती हैं। इस प्रकार आदर्श व्यक्ति तथा आदर्श समाज का विकास करने और मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को भगवान में ऊँचा उठा ले जाने का ठीक मार्ग यही प्रतीत होगा कि

समस्त जीवन को धर्ममय बनाकर सब कार्य धार्मिक भावना के अनुसार चलाये जायें।" योगिराज धर्म के अर्थ को रूढ़िवादिता के अर्थ में नहीं लेते वरन् उसे आध्यात्मिकता का पर्यायवाची समझते हैं।

परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भारतीय संस्कृति स्वप्नों या मृगमरीचिकाओं में भटकती रही है या वह इस संसार से विमुख रही है। भारतीय संस्कृति खड़ी तो इस भूमि पर है पर उसका शीश आकाश की ओर उठा हुआ है इसकी तुलना उस अश्वत्थ वृक्ष से की गयी है जिसकी नींव स्वर्ग में है परन्तु उसकी शाखाएँ पृथ्वी की ओर हैं। इसी प्रकार भारतीय संस्कृति भी आध्यात्मिकता के द्वारा, जिसकी प्रेरणा एवं जिसके लिये पुरुषार्थ ऊपर से प्राप्त होता है जीवन के अन्तरिक्ष को भेदकर उसके अनन्त रहस्यों को जानने के लिये प्रयत्नशील रही है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हमने जीवन की उपेक्षा की हो, विज्ञान से मुंह मोड़ा हो, समाज और कला कौशल के प्रति उदासीन रहे हों, सच तो यह है कि इनके मूल आधार को जानने के लिये हमारे ऋषियों ने आवश्यक यह समझा कि हम आध्यात्मिकता के द्वारा पूर्णद्रष्टा बनें। और तभी हम पदार्थ विद्या, शासन व्यवस्था, अर्थविद्या, शरीरशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, वास्तुकला, युद्धविद्या, जनन विज्ञान, तथा अन्य भौतिक विद्याओं के क्षेत्र में यथार्थ प्रगति कर सकेंगे। हमने भौतिकता और आध्यात्मिकता को विभिन्न नहीं समझा, भगवान को, जैसा कि उपनिषदों में बताया गया है प्रत्येक पदार्थ में निहित समझा गया है अतएव उसको व्यक्त करने के लिये प्रत्येक पदार्थ तत्त्व या विद्या को पराकाष्ठा पर पहुँचाना आवश्यक समझा गया। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब जब हमारे देश में आध्यात्मिकता की उन्नति सच्चे अर्थों में हुई है तब तब हमने सर्वांगीण उन्नति तथा प्रगति की है। यह सत्य है कि समय समय पर कतिपय विद्वानों और योगियों ने तप या सन्यास पर आवश्यकता से अधिक बल दिया है, संसार को मिथ्या बतलाया है पर यह समयानुसार कदाचित् उचित ही था परन्तु अब समय आ गया है कि हम अपने ऋषियों की देन को सम्मुख रखते हुए भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के मूल आधार का फिर से दिग्दर्शन करें। अपनी संस्कृति के आधार को परिवर्तित न करते हुए उसके बाह्य रूप में आवश्यकीय परिवर्तन करें। जिससे पश्चिमीय सभ्यता के सर्वोच्च तत्त्वों को भी हम ग्रहण कर सकें।

हमारा प्राचीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि हमने समयानुसार

अपनी सभ्यता में परिवर्तन किया है और समाज के सम्मुख एक नये समन्वय को प्रस्तुत किया है। भारतीय संस्कृति को हमें संकुचित दृष्टिकोण से नहीं देखना है, वह तो मानव संस्कृति से विभिन्न नहीं है कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि आज का संसार एक साँस्कृतिक संकटकाल से आच्छादित है और ऐसे समय में भारतीय संस्कृति पाश्चात्य और पूर्व की संस्कृति के उच्च तत्त्वों का समन्वय करके एक नया आदर्श स्थापित करती है।

इस प्रकार हमने देखा कि भारतीय संस्कृति का आधार आध्यात्मिकता है अर्थात् वह दृष्टिकोण है जिसके अनुसार हम मनुष्य, संसार, तथा ईश्वर के स्वरूप और सम्बन्धों को यथार्थ रूप से समझने का प्रयत्न करते हैं। अब यह देखना है कि भारतीय संस्कृति की क्या मुख्य विशेषताएँ हैं। ऐतिहासिक अवलोकन से हमें यह प्रतीत होता है कि हमारी प्रथम विशेषता स्वतन्त्र विचार पद्धति या अभय मनोवृत्ति की रही है। हमारे दर्शनशास्त्र हमारे उपनिषद् तथा वेद हमारी स्वतन्त्र विचार पद्धति के अकाट्य प्रमाण हैं। भगवान, मष्तिष्क, मन, बुद्धि, आत्मा, प्रकृति, तथा जीवन सम्बन्धी ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं है जिसका अनुसन्धान हमने न किया हो, जिसके बारे में हमने चिन्तन न किया हो यहाँ तक कि ईश्वर के अस्तित्व तक पर भी खुलकर ऊहापोह किया गया है।

हमारी दूसरी विशेषता सहिष्णुता और उदारता रही है हमारे यहाँ ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी सब प्रकार के मत और मतावलम्बी उत्पन्न हुए, फले और फूले, परन्तु न इसके लिये रक्तपात हुए और न विरोध हुए। जब कभी हमारे यहाँ कट्टरता दिखायी दी तब वह या तो संस्कृति के ह्रास का युग रहा है अथवा बाहर से आने वाली जातियों की क्रूरता और कट्टरता की प्रतिक्रिया मात्र थी इस उदारता और सहिष्णुता के कारण ही भारतीय विचारधारा सहस्त्रोमुखी रही है। उपनिषद में लिखा भी है "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"।

तृतीय विशेषता या चिन्ह लय या ऋतु है अर्थात् घटनाएँ अचानक नहीं होतीं वरन् नियमानुसार, एक व्यवस्था के अनुसार होती हैं उनमें एक स्थायित्व या निरन्तरता रहती है वे क्रमानुसार होती रहती है उदाहरणार्थ—पुनर्जन्म, आश्रम व्यवस्था, वर्णभेद तथा कर्मफल, के सिद्धान्त इसी विशेषता के अन्तर्गत आते हैं।

हमारी अन्तिम मुख्य विशेषता, सामंजस्य या संतुलन है इसी विशेषता के कारण हमारी संस्कृति में कभी उच्छृखलता नहीं आने पायी उसका अन्त नहीं होने पाया। अनेक वाह्य आक्रमण हुए, अनेक जातियाँ आयीं तथा अनेक विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हुआ फिर भी हमारे देश में संस्कृति की आधारशिला को सुरक्षित रखते हुए हमने समय समय पर इन सब जातियों को अपने में मिला लिया तथा इनकी सभ्यता को भी स्थान दिया।

मुसलमानों में यदि कट्टरता न होती तो वे भी हमारे पूर्ण निकट होते। साथ ही साथ हमने कभी संतुलन का त्याग नहीं किया, आध्यात्मवाद और भौतिकवाद के पारस्परिक सम्बन्धों में संतुलन का सदैव ध्यान रक्खा। भक्ति, ज्ञान और कर्म में पूर्ण समन्वय स्थापित किया। "सत्यं शिवं, सुन्दरम्" में से कोई भी हमारे लिये गौण नहीं रहा तीनों का सामंजस्य ही हमारा मुख्य ध्येय बना रहा। हमारे यहाँ के वेदान्तों ने यथार्थरूप से साम्यवाद, जनवाद तथा सांसारिक एकता की आधारशिला हमको दी है। प्रत्येक मनुष्य में हम ईश्वर को देखें अतः उसकी सर्वांगीण उन्नति हमारी आध्यात्मिकता की कसौटी है। यदि हम मानव समाज की उन्नति के लिये प्रयत्नशील नहीं होते तो हम सच्चे रूप से वेदान्ती नहीं हैं।

( २ )

हमने अभी तक इस बात का चिन्तन किया कि भारतीय संस्कृति का मुख्य आधार क्या है और उसकी क्या क्या विशेषताएँ हैं, अब हम यह समझने का प्रयत्न करेंगे कि भारतीय संस्कृति पर हमारे देश को भूगोल का क्या प्रभाव पड़ा है, बाहर से जो जातियाँ आयीं उनकी सभ्यता का क्या प्रभाव पड़ा है तथा हमारी संस्कृति में किस प्रकार की आधार भूत एकात्मकता पायी जाती है।

## भारतीय संस्कृति पर भौगोलिक प्रभाव

भिन्न भिन्न समय पर भिन्न भिन्न प्रदेश को "इंडिया अथवा हिन्दुस्तान" का नाम दिया गया है। प्रारम्भिक अर्थात् फारसी अर्थ के अनुसार इसका अर्थ सिन्धु नदी तथा उसके परे की "उत्तरी समतल भूमि" और "दक्षिण" की समस्त भूमि है। यूनान के लोग सिन्धु नदी को "इंडस" कहते थे। इसी शब्द से "इंडिया" नाम निकला। हम एशिया के उस भाग

को भारत मान लेते हैं जो ३७वीं व ८वीं डि अक्षांस (उत्तर) तथा ६७वीं व ९८वीं डिग्री रेखांश के बीच स्थित प्रदेश से बनता है और जिसका क्षेत्रफल (पाकिस्तान सहित) १९ लाख वर्ग ेल है।

इस वृहत् देश का सर्वाधिक प्राचीन भाग "दक्षिण" है जो उस समय भी एक द्वीप था जब कि हिन्दुस्तान (उत्तरी भारत) समुद्र के गर्भ में था। प्रागैतिहासिक कालीन इतिहास के विद्वान् जिसे "गोंडवाना की भूमि" कहते हैं वह उस आस्ट्रल महाद्वीप के हटने से बनी थी जो आस्ट्रेलिया से दक्षिण अफ्रीका तक फैला हुआ था और जिसका शेषांश लंका, अंडमन तथा मलय प्रायद्वीप है। एक ज्वालामुखी के विस्फोट ने अत्यन्त प्राचीन प्रदेश को अन्तर्हित कर दिया था। उसी के फलस्वरूप "दक्षिण भारत" प्रायद्वीप बन गया। उसी बीच उत्तर में समुद्रतल न केवल पानी के ऊपर आ गये वर रोप के पर्वतों से लगभग दुगुनी ऊँचाई पर पहुँच गये। इस प्रकार हिमा का समुद्र से जन्म हुआ। इसी के परिणाम स्वरू जो "भारतवर्ष" उस तक "आस्ट्रल महाद्वीप" का एक भाग था वह "उत्तरी गोलार्द्ध" का एक अविभाज्य अंग बन गया।

उत्तर में उत्तर-पश्चिम से उत्तर-पूर्व तक हिमालय भारत की सीमा है। इस प्रकार भारतवर्ष उत्तर में हिमालय के तथा पूर्व में बंगाल के वृहत् जलाशय से घिरा हुआ है। पश्चिम में सिन्धु नदी के दाहिने किनारे पर अफगानिस्तान और बलूचिस्तान की पर्वत श्रेणियाँ हैं किन्तु यहाँ से भारत के लिये प्रवेश द्वार के रूप में वे दर्रे हैं जो इतिहास में प्रसिद्ध हैं।

इस देश का शेष भाग समुद्र से घिरा हुआ है। दक्षिण में यह अत्यन्त संकीर्ण हो जाता है। दक्षिण भारत नीलगिरि पर्वत से प्रारम्भ होकर उस प्रदेश तक फैला है जिसे "कन्या कुमारी" कहते हैं। उत्तर में यह सोन व नर्मदा की विपरीत घाटियों के दक्षिण ढाल से प्रारंभ होता है, उत्तर में राजमहल पर्वत इसका आखिरी भाग है। गंगा नदी मुहाने की भूमि में फैलने के पूर्व राजमहल पर्वत के चारों ओर बहती है। चौरस भूमि के किनारों पर 'घाटों' की दो शृंखलायें हैं जिनमें से एक को "पश्चिमी" तथा दूसरी को "पूर्वी" घाट कहते हैं। दक्षिण भारत के उत्तरी किनारे पर "विन्ध्य" पर्वत माला है जो नर्मदा की घाटी के उत्तरी ढाल से गंगा की समतल भूमि तक फैली है। पश्चिम में अरावली पर्वतमाला

इस चौरसभूमि का उच्चतम भाग है जो पूर्व की ओर धीरे धीरे गिरता जाता है।

जहाँ तक नदियों का प्रश्न है, न केवल "दक्षिण" की नदियों ने "पूर्वीघाट" की पंक्ति को अनेक भागों में खंडित किया है अपितु सिंधु नदी तथा सतलज, गोगरा और ब्रह्मपुत्र नदियों ने स्वयं हिमालय को ही खंडित कर दिया है। हिन्दुस्तान की दो महान् नदियों में विशेषता यह है कि उनमे एक प्रकार का विपरीत सुडौलपन है। सिन्धु नदी के उत्तरी जलाशय की पाँच नदियों ऊपर की ओर मुहाने पर एक त्रिकोण भूमि बनाती हैं जो घाटियों से भरी हुई है। जब कि नदी का निचला मार्ग दो मरुभूमियों के बीच में है। हिमालय के पूरे दक्षिणी ढाल के झरनों का जल लेती हुई गंगा नदी अपने पूरे मार्ग में उर्वर भूमि से होकर बहती है किन्तु इसका पानी उस त्रिकोण भूमि में जाकर बँट जाता है जो विदेशियों के लिये अत्यधिक आकर्षक ह।

भारत के जलाशयों की दो मुख्य विशेषताएँ हैं। एक तो हिमालय में स्थित बर्फ का वह भंडार जो कभी कम नहीं होता और दूसरी वह हवा जो ग्रीष्म ऋतु और फिर पतझड़ ऋतु में दक्षिण से उत्तर की ओर बंगाल की खाड़ी तक चलती है। इसी को मानसून कहते हैं जो अपने साथ हिमालय से मूसलाधार वर्षा लेकर चलती है। बंगाल में भारी वृष्टि होती है और ज्यों ज्यों गंगा की ओर चलिये वर्षा कम होती जाती है। गंगा और सिंधु नदियों के बीच सिंचाई का अभाव हो जाता है और अरब सागर तक एक वृहत् मरुभूमि बढ़ती जाती है। एक रूप से वर्षा न होने का फल यह है कि देश की भूमि सर्वत्र समान रूप से उर्वर नहीं है। पंजाब की घाटियाँ उर्वर हैं परन्तु सिंधु नदी के निचले भाग में सिंचाई की कृत्रिम रूप से व्यवस्था करके ही वहाँ की भूमि में उर्वरता उत्पन्न की जाती है। राजपूताना की वृहत् मरुभूमि या 'थार' के परे अहमदाबाद और सूरत के बीच की बड़ौदा जिले की वह भूमि उर्वर है जो बाढ़ से बची है। नर्मदा की घाटी, काठियावाड़ की चौरस भूमि, मद्रास से तूतीकोरिन तक भी उर्वर है। उर्वर जिलों में जहाँ सफाई नहीं की गयी वहाँ जंगल हैं जैसे बंगाल की तराई।

हमारे देश का आकार अनियमित चतुष्कोण है। भूगोल के प्राचीन विद्वानों ने भारतवर्ष के सम्बन्ध में कहा है—"चतुर्संनिस्थान सनिस्थितम्"।

हिमालय, महासागर, तथा पश्चिम व पूर्व में स्थित पर्वतमालायें इसकी भुजाएँ हैं। "प्राचीन साहित्य में भारत को पाँच भागों में विभाजित किया गया है। सिंधु-गंगा की समतल भूमि के केन्द्र में स्थित प्रदेश को मध्य-देश कहा गया है जो सरस्वती नदी से इलाहाबाद और बनारस तथा बौद्धों के पुराने लेखों के अनुसार राजमहल पर्वत तक फैला हुआ था। इस क्षेत्र के पश्चिमी भाग को ब्रह्मर्षि देश कहा जाता था। यह पूरा प्रदेश पातंजलि के व्याकरण में उल्लिखित "आर्यावर्त के" लगभग बराबर था। मध्यदेश के उत्तर में 'उत्तरपथ' या उदीच्य (उत्तर-पश्चिमी भारत) और इसके पश्चिम में अपरत या प्रातीच्य (पश्चिमी भारत), इसके दक्षिण में दक्षिणपथ या "दक्षिण" तथा इसके पूर्व में पूर्वदेश या प्राच्य था (जिसे सिकंदरकालीन इतिहासज्ञों ने 'प्रासी' कहा है)।"३ यह पूरा प्रदेश भारतवर्ष या पुराणों के एक विख्यात राजा भरत की भूमि कहा जाता था। इसे जम्बूद्वीप भी कहा गया है। इसका अर्थ चीन से बाहर स्थित एशिया का वह भाग है जहाँ मौर्यों के महान् राज्यवंश की सत्ता थी।

भारत के इस भूगोल ने उसके इतिहास एवं संस्कृति को कई तरीकों से प्रभावित किया है। उदाहरण के लिये भारत के भूगोल के ही प्रभाव के कारण प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में यहाँ सदैव सहिष्णुता की भावना रहती आयी है। प्रत्यक्ष रूप में इस देश की विशालता तथा इसकी जलवायु ने यहाँ के लोगों के मस्तिष्क को प्रभावित किया है। यहाँ के प्रदेश, जल-वायु व जीवन की दशाओं में जो भारी विभिन्नता है उसने भारतीय मस्तिष्क को ऐसा बना दिया है कि वह किसी प्रकार की भी भिन्नता को तुरन्त ग्रहण कर लेता है। इसके अतिरिक्त इस देश के विस्तृत प्रदेशों ने नये लोगों को धीरे धीरे अपने यहाँ प्रविष्ट होने की जगह दी और हर क्षेत्र को अपने ढंग पर विकसित होने का अवसर दिया। भारतीय जलवायु सामान्यतः लोगों में थकावट व मन्दता उत्पन्न करती है। इतिहास धीरे-धीरे गौरव सहित चलता है। इसके फलस्वरूप भारतीयों में सहिष्णुता और सरलता से किसी भी भिन्नता को ग्रहण करने की भावना रहती है।

फिर भारत की भौगोलिक पृथकता तथा प्राकृतिक सीमाओं ने उसे एकता की भावना दी है। एक ठोस प्रादेशिक इकाई और उसके आंतरिक एकता के साथ साथ उसमें और सभी बाहरी भूमि में बड़ा अन्तर है। प्रकृति ने उसकी सीमाओं के अन्दर वे सभी साधन दे रखे हैं जो सुसंस्कृति व रचनात्मक जीवन यापन के हेतु मनुष्य के लिये आवश्यक होते

हैं। यहाँ तक भी कहा जा सकता है कि भारतीय भूगोल ने उसको इतिहास रूपी फल प्रदान किया है। "भारत को उसके शारीरिक अवयवों ने एशिया के शेष भाग से ऐसा भिन्न बना दिया है कि इस देश को विभाजित करने अथवा इसकी प्राकृतिक सीमाओं से परे इसके प्रसार करने के प्रयत्न असफल रहे हैं।"४ इस प्रकार भूगोल ने ही भारतीय शासकों को एकता रखने के लिये बाध्य किया है। चन्द्रगुप्त, अशोक, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, मुहम्मद तुगलक, अलाउद्दीन, अकबर, औरंगजेब, तथा अंग्रेजों के प्रयत्न इस बात के प्रमाण हैं। इस देश के भूमि की उर्वरा शक्ति और यहाँ की सहस्रों वर्षों से चली आने वाली कृषि संबंधी अर्थव्यवस्था भारतीय संस्कृति की गहराई को स्पष्ट करती है।

सामान्य आर्थिक संगठन के कारण सामान्य विशेषताओं एवं सामान्य दृष्टिकोण का विकास हुआ है। कहा जाता है कि मानसून के मनमौजीपन के कारण भारत में दैवाधीनता की भावना रही है। सम्पर्क-साधनों की कठिनाइयों के कारण प्रशासकीय एकता में रुकावट रही है। इस प्रकार भारत का भूगोल इस देश की संस्कृति के मौलिक आधार विभिन्नता में एकता को स्पष्ट करती है। यह भी कहा गया है कि भारत के विशाल प्रदेश, स्वच्छ आकाश तथा नक्षत्रों से परिपूर्ण नभमण्डल ने यहाँ के लोगों के दृष्टिकोण को दार्शनिक बना दिया है और इसी के कारण भारतीयों में स्वर्ग और उसके परे के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने की उत्सुकता को जन्म दिया है।

साथ ही भारतीयों में अपने देश की मिट्टी और शारीरिक अवयवों ---उसके पशु-पौधों, नदियों, पर्वतों और घाटियों, उसकी अधिक पैदावार की शक्ति और सक्रियता---के प्रति सच्चा प्रेम मिलता है। यह ऋग्वेद के नदी-सूक्त तथा अथर्ववेद के पृथ्वी-सूक्त में प्रकट किया गया है। मिट्टी के प्रति यह प्रेम इस सीमा तक गहरा होता गया और बढ़ता गया कि पुराणों एवं महाकाव्यों में भारत को पवित्र भूमि तक कह दिया गया। इसने भौगोलिक जागरूकता या यह कहना चाहिये कि समाज के जीवन के प्रादेशिक आधार की अनुभूति पैदा की। यह विचार धारा अन्य देशों में भी पायी जाती है किन्तु यहाँ हम इस पवित्र भूमि की इस विचारधारा में कुछ योग कर रहे हैं और यहाँ की मिट्टी में जो विशेष स्वभाव की भावना है उसको प्रस्तुत कर रहे हैं। धार्मिक संस्कृति का मूल यहाँ की मिट्टी में है। ब्रह्मावर्त, मध्यदेश तथा आर्यावर्त की सीमाओं की व्याख्या मनु ने

संक्षिप्त रूप में की है। इस प्रकार हमारी संस्कृति और हमारे देश के भूगोल में निकटतम सम्बन्ध है। हम पूरे देश को भारतवर्ष कह कर मातृ-भूमि की भावना को विकसित करते हैं। इस देश को वह कर्मभूमि माना गया है जिसके साथ भारतीयों के समस्त कार्य एवं प्रयत्न विशेषतः अवश्य संबंधित होंगे। भारतीय संस्कृति पर भूगोल का जो प्रभाव पड़ा है उसकी जटिलताओं का अध्ययन हम विष्णुपुराण में कर सकते हैं।

हमें इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिये कि हमारे देश के इतिहास में जो घटनाएँ घटी हैं उनमें से अधिकांश उसके भूगोल से प्रभावित हैं। यूनान के हिपोक्रेटिस से लेकर भूगोल के समस्त पंडितों ने पर्वतीय क्षेत्रों के देशों के निवासियों को विनम्र, भद्र, साहसी और उच्च कहा है और भूगोल के प्रभाव पर जोर दिया है। लुशियन फेवर के शब्दों में "मनुष्य का अस्तित्व प्रथम है ऐसा भूगोल के विद्वानों को कहना चाहिए। उसके स्वभाव, उसके विशेष चरित्र तथा उसके रहन-सहन का तरीका इस बात के आवश्यक परिणाम नहीं है कि वह किस वातावरण या परिस्थिति में रहा है। ये परिस्थिति या वातावरण की उपज नहीं है। मनुष्य इन्हें अपने साथ लेकर चलता है और जहाँ जाता है साथ ले जाता है। वे उसकी प्रकृति के परिणाम हैं। हमें अंधविश्वास के साथ यह न कहना चाहिए कि अमुक प्रदेश ने अपने निवासियों को अमुक रहन-सहन का तरीका अपनाने को बाध्य किया। बल्कि यह कहना चाहिए कि किसी देश की आकृति को संगठित व व्यवस्थित तरीकों से कार्य करते हुए इसी प्रकार क्रमिक पीढ़ियों तक अधिकाधिक शक्तिपूर्वक उनकी जड़ जमाते हुए, आने वाली पीढ़ी के लोगों पर अपनी छाप डालते हुए और सभी प्रगतिशील शक्तियों पर निश्चित ढंग पर अपनाते हुए पूर्णतः बदला जा सकता है।" मनुष्य तथा वातावरण इनमें मनुष्य को प्राथमिकता देनी होगी।

## भारतीय संस्कृति पर जातिगत प्रभाव

ऊपर हमने अध्ययन किया कि भारत के भूगोल ने उसकी संस्कृति को कैसे प्रभावित किया। जहाँ तक जातिगत प्रभाव का प्रश्न है, यह भी भारतीय संस्कृति के उस स्वरूप के लिये उत्तरदायी है जिसको उसने शताब्दियों से गुजरते हुए प्राप्त किया है। संस्कृति के विषय में आधारभूत

बात यह है कि उसका ऐतिहासिक विकास से घनिष्ट संबंध रहता है। हमारे देश का इतिहास इस बात को स्पष्ट करता है कि उसका संस्कृति कोष इतना अधिक वृहत् और बहुरंगी क्यों है। एक के बाद दूसरी और इसी प्रकार अनेकानेक जातियाँ इस देश में आती रहीं और हमारी संस्कृति में अपना योगदान देते हुए हमारे देश के करोड़ों लोगों में विलीन होती गयीं।

भारत को जातियों का अजायबघर कहा गया है। भारत के मानव रचना शास्त्र सम्बन्धी अन्वेषण विभाग के डाइरेक्टर श्री बी० एस० गुहा ने भारतीय जातियों का हाल ही में निम्न रूप में वर्गीकरण किया है :—

(१) नेग्रिटो (२) प्रोटो—आस्ट्रोलायड (३) मंगोलायड जिसमें [अ] पौलियो—मंगोलायड्स सम्मिलित हैं। इनके दो प्रकार हैं। (क) लंबे सिर वाले (ख) चौड़े सिर वाले। [ब] तिब्बती मंगोलायड्स (४) भूमध्य सागरीय तथा (क) पैलिको–भूमध्यसागरीय (ख) भूमध्य-सागरीय (ग) जिन्हें "पूर्वी" कहा जाता है वे जातियाँ सम्मिलित हैं। (५) पश्चिमी ब्रेकीसेफल्स जिनमें (क) आल्पिनायड (ख) डिनारिक और (ग) आर्मेनायड शामिल हैं। और (६) नार्डिक।

उक्त जातियों में से नेग्रिटो लगभग मृतप्राय हैं। अंडमन द्वीप समूह, कोचीन व त्रावणकोर की पहाड़ियों के आदि वासियों, आसाम तथा राजमहल पहाड़ी (पूर्वी बिहार)) में इस जाति का एक छोटा सा दल अब भी बचा हुआ है। खोपड़ी के आकार तथा लच्छेदार बालों की बनावट में नेग्रिटो जाति के प्रभाव का संकेत पाया जाता है। प्रोटो आस्ट्रो-लायड्स जाति के लोग वर्तमान काल के अनेक आदिवासियों में पाये जाते हैं और उनमें से कुछ नीची जाति की भारतीय जनता में भी मिल सकते हैं। आस्ट्रोलायड जाति के लोगों का ललाट ढलुवा, नाक चपटी किंतु फैली हुई, ठुड्डी दबी हुई और मोटा शरीर होता है। मंगोलायड जाति आसाम चटगाँव की पहाड़ियों तथा भूटान में पायी जाती है। भूमध्य सागरीय जाति के लोग कन्नाड़, तामिल, मलयालम, पंजाब, गंगा की घाटी, सिंध, राजपूताना एवं अन्य स्थानों में पाये जाते हैं। इस जाति के लोगों का सिर लंबा, नाक चपटी, गालों की हड्डियाँ ऊँची तथा आँखें तिरछी होती हैं। ब्रेकीसेफल जाति बंगाल, उड़ीसा, काठियावाड़, कुर्ग, गुजरात, मलाबार को छोड़कर भारत के पश्चिमी तट के आसपास हिमालय प्रदेश में तथा पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं बिहार के कुछ भागों में पायी जाती है। इस जाति के लोगों का

सिर छोटा होता है। नार्डिक जाति ने भारत को आर्यों की विद्या व भाषा, संगठन, कल्पना व ग्रहण करने की शक्ति तथा भारतीय संस्कृति का आधार प्रदान किया है। इस जाति के लोग उत्तर पश्चिमी सीमाप्रान्त, पंजाब, राजपूताना, काश्मीर, उत्तरी गंगा की घाटी तथा महाराष्ट्र में चित्पावन ब्राह्मणों में बहुतायत से मिलते हैं। ये लोग लंबे गोरे रंग के होते हैं और इनकी आँखें हल्की भूरी या काली होती हैं।

उपर्युक्त वर्गीकरण ऐसा नहीं है जिस पर कि और आगे कुछ विचार न किया जा सके। आर्थिक दशा, परिस्थितियों, सामूहिक जीवन आदि ऐसी ही अनेक बातों के कारण कई मामलों में विशेषताएँ कम हो गयीं हैं। भारत के सामान्य रहन-सहन के फलस्वरूप इन जातियों के चरित्र व विशेषताएँ संशोधित हो गयी हैं। इसके परिणामस्वरूप इनमें एक सामान्य भारतीय ढंग व संस्कृति का विकास हुआ। इन जातियों ने हमारी संस्कृति में जो योगदान किये हैं अब हम उनपर विचार करेंगे।

जहाँ तक नेग्रिटो जाति का संबंध है संभवतः इसने उर्वराशक्ति, मृत व्यक्तियों की आत्मा संबंधी तथा स्वर्ग जाने के मृत व्यक्ति के मार्ग संबंधी कुछ विचारधाराएँ एवं धार्मिक विचार दिये हैं। हमने मृत व्यक्ति के शव को जलाने की प्रथा, सामुदायिक गृह, नाव चलाना, धार्मिक विचार, नारियल, बर्तन बनाना, चावल-फल-सब्जी की खेती, इत्यादि बातें संभवतः प्रोटो-आस्ट्रोलायड जाति से पायी हैं। इस जाति ने हमें कुछ फलों व पशुओं के नाम भी दिये हैं। इससे यह दिखायी देता है कि भारतीय संस्कृति के कुछ आधारभूत तत्त्व हमें इस जाति से प्राप्त हुए हैं। साथ ही भावी जीवन संबंधी कुछ धारणाएँ, कुछ प्रकार के संस्कार तथा २० के हिसाब से गिनती करने की प्रणाली भी इसी से प्राप्त हुई है। कहा जाता है कि भारतियों में जो मूढ़ विश्वास, प्रसन्नता, संगीत व आनन्द के प्रति प्रेम, नम्रता, कठोर परिश्रम से काम करना, रस्म रिवाजों के प्रति सम्मान और आत्मा में विश्वास आदि बातें हैं वे आस्ट्रिक स्वभाव एवं प्रकृति की द्योतक हैं। ये लोग मुंड, संथाल आदि जातियों में, जो काले और चपटी नाक वाले होते हैं, पाये जाते हैं। इन्होंने कई तरीकों से आर्यों की भाषा पर भी प्रभाव डाला है।

द्राविड़ जाति के लोग, जिनका सिर लंबा होता है, और जो शहरी संस्कृति के लिये उत्तरदायी हैं, मुख्यतः भूमध्य सागरीय जनता का प्रति-

निधित्व करते हैं। इन्होंने ही भारत को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में प्रवेश कराया। 'दक्षिण' तथा दक्षिणी भारत में इनकी भाषा का ठोस प्रभाव है। कहा जाता है कि बलूचिस्तान की "ब्रांहुई" भाषा द्राविड़ है। उत्तर भारतीय भाषाओं में भी इनकी भाषा का प्रभाव है। ऐसा माना जाता है कि मोहेन्जोदड़ो तथा हड़प्पा के लोग द्रविड़ थे। द्रविड़ों ने शिव धर्म, देवी या शक्ति की पूजा तथा योग को भारत में प्रचलित किया। इन्होंने सिंह-सांड़ जैसे देवताओं-देवियों से संबंधित विभिन्न प्रकार के चिन्ह भी हमें दिये। हमारे मंदिरों व शिल्पकला की कई विशेषताएँ द्रविड़ कालीन हैं। वे धातु के कामों से अवगत थे। यह भी कहा जाता है कि हमें तन्त्र विद्या द्रविड़ों से ही मिली है। फूल, पत्तियाँ, जल आदि चढ़ाने आदि की पूजा करने की विधियाँ भी आर्यों से पूर्व की हैं। अतः हम यह कह सकते हैं कि जहाँ तक हिन्दू संस्कृति का संबंध है, इसकी बहुत सी मौलिकताएँ द्रविड़ों से प्राप्त हुई हैं। साथ ही आर्यों के पूर्व की रीतियों व संस्कारों को मानने का अर्थ दैवत्व का वह सिद्धान्त तथा उन पौराणिक देवी-देवताओं को मानना था जो कि द्रविड़ों में प्रचलित थे और माने जाते थे। कहा जाता है कि खाद्य-पदार्थों में द्रविड़ों से हमें गेहूँ, चावल, दूध, दाल, शाक-सब्जी, रुई से निर्मित वस्त्र, निवास-व्यवस्था, आठ के हिसाब से गिनती करना, देवर-भौजाई तथा जेठ व अनुज-वधू का सम्बन्ध जैसी प्रथाएँ, कई वैवाहिक प्रथाएँ, पुराणों में लिखित अनेक कहानियाँ तथा वाक्-स्वर आदि प्राप्त हुए हैं। द्रविड़ों ने भी संस्कृत भाषा और आर्यों के समान ही वर्ण-व्यवस्था को ग्रहण कर लिया। मुसलमानों ने भी हमारी संस्कृति पर अपना प्रभाव डाला। उन्होंने इस देश में क्या योगदान किया इस पर हम इस पुस्तक के पृथक् अध्याय में विचार करेंगे। मंगोलायड जाति के लोगों का प्रभाव स्थानीय ही रहा।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि हमारी संस्कृति पर भूगोल तथा विभिन्न जातियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। आर्यों का जो प्रभाव पड़ा है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उनकी दार्शनिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचारधाराओं से हमारी संस्कृति को मौलिक एवं आधारभूत नींव मिली है। आधुनिक युग में हम यह देख रहे हैं कि हमारे यहाँ एक नया समन्वय प्रारंभ हो रहा है। हमारी भूमि में 'पूर्व' तथा 'पश्चिम' का सम्मिलन हुआ है। इससे हमारी संस्कृति को संभवतः नवीन गति मिले और यह भावी विश्व-संस्कृति का आधार भी हमें दे सकता है।

३

## भारत की मौलिक एकता

भारतवर्ष की भूमि में बड़ी विपरीतताएँ तथा विभिन्नताएँ हैं। किंतु इससे हमें यह न समझ लेना चाहिए कि हमारी संस्कृति में एकता नहीं है, परस्पर विरोधी-विचारधाराएँ हैं, सिद्धान्तों का बाहुल्य है, तथा भाषाओं, रहन-सहन के तरीकों, आचार-व्यवहार, वस्त्र, खाद्यान्न तथा अन्यान्य वस्तुओं में बड़ी भिन्नताएँ हैं। फिर भी आधारभूत एवं अनिवार्य रूप में भारत में सदैव एकता एवं संस्कृति की अनवरत गति रही है

पहली बात तो यह है कि भारत में धर्म एवं आध्यात्मिकता में सदैव एकता रही है। उसके कलाओं के समस्त रूपों में एक ही सत्य है। एनी बेसेन्ट के शब्दों में "भारतीय कला" "दैवी ज्ञान" के वृक्ष का वह पुष्प है जिसमें अदृश्य विश्व तक से संबंधित तथ्यों का कोष भरा हुआ है। एकता की इस अनुभूति को भारत की भौगोलिक एकता से काफी बल मिला है। हम में इसी के परिणाम स्वरूप "सामान्य मातृभूमि" की धारणा आयी। "बन्दे मातरम्" गीत इसी भावना का प्रतीत है। पुराणों में महासागर के उत्तर, बर्फीले पर्वतों के दक्षिण स्थित उस समस्त भूमि को "भारतवर्ष" कहा गया है जहाँ पर्वतों की सात मुख्य शृंखलाएँ हैं, जहाँ भारत के वंशज रहते हैं, जिसके पूर्व में किरात (बर्बर) और पश्चिम में यवन रहते हैं तथा जहाँ ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों की आबादी है। "भारतवर्ष" शब्द का ऐतिहासिक महत्त्व है और वह उन "भरतों" के देश का प्रतीत है जो मुख्यतः इस देश में हिन्दू-आर्य सभ्यता को लाये थे।

हिन्दुओं में एक साधारण प्रार्थना प्रचलित है जिसमें मातृभूमि को गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिन्ध और कावेरी आदि सात पवित्र नदियों की भूमि की प्रतिमा-रूप में स्तुति करते हैं और उसकी पूजा करते हैं। एक अन्य प्रार्थना में इसे अयोध्या, मथुरा, माया (वर्तमान हरद्वार), काशी, काँची, अवन्तिका (उज्जैन) तथा द्वारावती (द्वारका) आदि सात पवित्र नगरों की मूर्ति का रूप दिया गया है[६]। ये नगर भारत के मुख्य-मुख्य प्रदेशों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

धार्मिक तीर्थ यात्राओंकी हिन्दुओंकी प्रथा सामान्य मातृभूमि की उसी चेतना का प्रतीक है; कारण इन तीर्थ यात्राओं में भारत की पूरी लम्बाई एवं चौड़ाई

सम्मिलित है। राधाकुमुद मुकर्जी के शब्दों में "इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भारत की जनता में भौगोलिक भावना विकसित करने का यह सर्वाधिक प्रमुख साधन है जिससे भारतीयों में यह अनुभूति हुई कि उनका केवल भौगोलिक खण्डों का समूह मात्र नहीं है वरन् इसके एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक एक ही जीवन व शक्ति है।" इसी भावना ने शंकराचार्य को देश के चार सिरों पर अपने चार मठ स्थापित करने के लिए प्रेरित किया। इन मठों के नाम ज्योतिर्मठ, शारदा मठ, गोवर्द्धन मठ और श्रृंगेरी मठ हैं। और ये क्रमशः उत्तर में हिमालय में बद्री–केदार के समीप, पश्चिम में द्वारिकापुरीमें, पूर्व में पुरी (उड़ीसा) में तथा मैसूर में स्थापित हैं। इस प्रकार पृथक्तावाद भी भारतीय संस्कृति में राष्ट्रीयता का सहायक है। हमारे धार्मिक साहित्य में भी, उदाहरण के लिए, भगवत् पुराण एवं मनुस्मृति में, देश भक्ति की भावना से भारतवर्ष को देवताओं द्वारा निर्मित भूमि बताया गया है और "जननी जन्म भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" तथा इसी प्रकार की अन्यान्य विचारधाराएं प्रकट की गयी हैं।

इस प्रकार हमने देश भक्ति को धर्म में सम्मिलित कर लिया है। योगी अरविन्द के शब्दों में "मातृभूमि की मिट्टी, भारतीय समुद्र से बहने वाली वायु, तथा भारतीय पर्वतों से निकल कर बहने वाली नदियों के स्पर्श, भारतीय शब्द, संगीत, कविता, दृश्यों, स्वर, स्वभाव, वस्त्र तथा भारतीय आचार–व्यवहार में शारीरिक सुख की जो अनुभूति होती है वह उसी प्रेम का मूल है। इसी प्रेम की अनुभूति के कारण हम भारत के वाह्य शरीर से नहीं बल्कि उसकी आत्मा से आन्तरिक संबंध का होना महसूस करते हैं। इसीके फलस्वरूप हमारे मस्तिष्क के सामने भारत के प्रेम की मूर्ति होने की विचारधारा आ जाती है।"

इस प्रकार भारत की आधारभूत एकता की जड़ भारतीयों की मानसिक स्थिति में जमी हुई है। राजनीतिक दृष्टि से भी, सम्पूर्ण भारतवर्ष का एक साम्राज्य बनाने की दिशा में जितने प्रयास किये गये हैं वे एकता स्थापित करने के प्रयास के संकेत हैं। सम्राट, अश्वमेध तथा दिग्विजय जैसे वैदिक शब्दों से इस बात की पुष्टि होती है। जहाँतक जातियों का प्रश्न है, यह बताया जा चुका है कि भारत ने उन सबमें एसी सामान्य मुहर लगा दी है कि जिससे उनमें भारी विभिन्नताएं होते हुए भी उनको पहचाना जा सकता है। भारतने उनको ऐसा स्वरूप दे दिया है कि जिससे उनमें भिन्नताएं होने के साथ–साथ एकरूपता भी है। यह भी बताया जा चुका है कि हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक रहन–सहन के ढंग में विशेष एकरूपता है और ऐसा सामान्य भारतीय व्यक्तित्व है जिसको टुकड़ों में विभाजित नहीं किया जा सकता। विभिन्न प्रान्तों ने एक दूसरे के अतीत में हिस्सा बंटायाहै। उदा-

हरण के लिए बंगाल के निवासियों को राजपूतों के इतिहास पर गर्व है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी भारत में भिन्नताओं के होते हुए भी मिली जुली सद्भावना पायी जाती है। भारत के लोगों में हम अस्मरणीय अतीत काल से कुछ विशिष्ट तथा सामान्य विचारधाराएं पाते हैं। अदृश्य वास्तविकता, समन्वय की इच्छा, जीवन के दुखों की मान्यता, जिसके कारण लोग इनका अन्त करने के लिएउनके मूल कारणों की खोज करते हैं, समस्त बुराइयों को दूर करने के लिए अदृश्य वास्तविकता को प्राप्त करने की आकांक्षा, अनुशासन, विश्वास और भक्ति, दाम, सहिष्णुता एवं जीवन की पवित्रता की भावना समस्त भारतीयों में सामान्य रूप में पायी जाती है। टैगोर का कथन है कि "विभिन्नता में एकता की अनुभूति एवं मित्रता में समन्वय स्थापित करना भारत का "सनातन धर्म" है।"

पश्चिम के लोग इस सांस्कृतिक एकता का विवेचन करने में समर्थ नहीं हो सके हैं और वे भारत के सामाजिक रस्म–रिवाजों से और भी अधिक प्रभावित हुए हैं। उनके लिए इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द के निम्न विचार बहुत उचित सिद्ध होंगे। "भारतीय मस्तिष्क के लिए सिद्धान्त धर्म का अत्यल्प महत्वपूर्ण भाग है। भारतीय सिद्धान्त को नहीं वरन् धार्मिक भावना को महत्व देते हैं। किन्तु पश्चिमी मस्तिष्क के लिए एक निश्चित बौद्धिक विश्वास किसी धर्म या सम्प्रदाय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग है। यह धारणा इस पश्चिमी विचारधाराका परिणाम है कि बौद्धिक सत्य ही सबसे ऊँचा है। इसके विपरीत भारत के एक धार्मिक विचारक का यह विश्वास रहता है कि आत्मा के सत्य सर्वोच्च हैं, अदृष्ट की ओर झुका हुआ बौद्धिक सत्य एक मार्गीय नहीं वरन् बहुमार्गीय होना चाहिए, विभिन्न बौद्धिक विश्वासों को समानतः सत्य होना चाहिये क्योंकि वे भिन्न–भिन्न सिद्धान्तों व स्वरूपों, चाहे उनमें बौद्धिक दूरी कितनी ही क्यों न हो, के दर्पण होते हैं।" अतः हमारी संस्कृति में भारत की आधारभूत एकता की नींव जमी हुयी है।

४

हमने ऊपर भारतीय संस्कृति के महत्व एवं स्वरूप पर विचार किया है। केवल तर्क करने योग्य एक प्रश्न है। क्या हम कोई ऐसा सिद्धान्त बना या निकाल सकते हैं जिसका भारतीय संस्कृति के विकास में प्रमुख भाग रहा है? क्या कुछ ऐसे सिद्धान्त हैं जो भारतीय संस्कृति के विभिन्न चरण में प्रकट हुए भिन्न–भिन्न सांस्कृतिक स्वरूप की व्याख्या कर सकें?

अनेक विचारकों ने किसी सिद्धान्त अथवा शक्ति का उल्लेख करके ऐतिहासिक घटनाओं एवं शक्तियों को स्पष्ट करने के प्रयत्न किये हैं। इनमें आजकल के सर्वाधिक प्रसिद्ध कार्ल मार्क्स की भौतिक व्याख्या है। परन्तु इस प्रकार की व्याख्या में दो मुख्य त्रुटियाँ हैं। प्रथम यह कि इस विश्लेषण का वाह्य तत्वों, नियमों, सिद्धान्तों, अधिकारों, प्रथाओं, आर्थिक प्रश्नों एवं विकासों पर ध्यान केन्द्रित रहता है, परन्तु यह उन मानसिक तत्वों की उपेक्षा करता है जो विचार शक्ति, भाव एवं मस्तिष्क सम्बन्धी गतिविधि में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं।

भौतिक दृष्टि से पूर्ण पर्याप्तता में यह विश्वास मस्तिष्क एवं आत्मा की व्याख्या के लिए सही दृष्टिकोण नहीं है। दूसरी बात यह है कि आर्थिक प्रश्न पर इस प्रकार जोर दिये जाने से इस बात को भुला दिया जाता है कि मनुष्य विभिन्न व्यक्तित्वों का केन्द्र है और उसका शारीरिक जीवन मानव अस्तित्व का केवल मात्र एक तत्व है। समाज में रहने वाले मनुष्यों के लिए भौतिक दृष्टि से पूर्ण समृद्ध जीवन वाँछनीय है किन्तु साथ–साथ इस जीवन का सच्चा एवं सुन्दर होना भी आवश्यक है। जीवन तथा शरीर दोनों में से किसी का भी अस्तित्व उन्हींके लिए नहीं होता बल्कि ये दोनों किसी उच्चतर उद्देश्य को पूरा करने तथा वह सर्वोच्च कार्य करने के साधन मात्र हैं जो शारीरिक के बजाय मानसिक और आध्यात्मिक अधिक है।

इसलिए हम कोई भी ऐसा एक सिद्धान्त निश्चित नहीं कर सकते जो भारतीय संस्कृति के विभिन्न चरणों में प्रमुख तत्व रहा हो। हम केवल यही कह सकते हैं कि हमारी संस्कृति के किसी विशेष चरण में अमुक सिद्धान्त का प्रभुत्व रहा और उसके साथ अन्य कई सिद्धान्त कार्य करते रहे थे परन्तु उनकी शक्ति मुख्य सिद्धान्त जैसी नहीं थी। हमारे साँस्कृतिक विकास के मुख्य सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने के पूर्व हमें अपने साँस्कृतिक इतिहास के विभिन्न चरणों को स्पष्ट कर देना चाहिए।

हमारी संस्कृति का प्रथम मुख्य आधार वैदिक काल है जिसमें उपनिषद्, रामायण एवं महाभारत काल सम्मिलित हैं। इसके उपरान्त उच्च कोटि के साहित्य का वह युग है जो बौद्ध काल से आरम्भ होकर हर्ष के समय में समाप्त होता है। इसके पश्चात् वह मध्य युग आता है जो राजपूत संस्कृति से आरम्भ होकर हिन्दू–मुस्लिम संस्कृति के युग में समाप्त होता है। तत्पश्चात् आधुनिक काल आता है जिसमें भारतीय संस्कृति पर पश्चिम का प्रभाव पड़ता है और भारत में कला–कौशल तथा अन्य विद्याओं की जागृति का आरम्भ होता है।

श्री अरविन्द ने इस दिशा में जो पथ प्रदर्शन किया है, उसके आधार पर हम उन मुख्य सिद्धान्तों को प्रस्तुत कर रहे हैं जिनका हमारी संस्कृति के विभिन्न चरणों में प्रमुख भाग रहा है। इन सिद्धान्तों का मानसिकस्वरूप है और ये प्रतीकवादी (Symbolical), रूढ़िगत (Conventional), समष्टिगत (Typal), व्यक्तिवादी तथा चेतनावादी (Subjective) हैं। वैदिक काल में प्रतीकवादी, "धर्म" के युग में समष्टिगत, मध्य युग में रूढ़िगत एवं आधुनिक काल में व्यक्तिवादी सिद्धान्त का प्रभाव रहा है। चेतना सम्बन्धी एक और सिद्धान्त का प्रभाव हाल में शुरू हुआ है।

भारतीय संस्कृति के प्रारम्भिक चरण में प्रतीकवादी धारणा देखने में आती है और उस समय लोगों में विचारशीलता, प्रथाओं एवं नियमों के प्रति आस्था थी। साथ-साथ काल्पनिक रूप में धार्मिक भावनाएं भी अपना कार्य कर रही थीं। प्रतीकवादिता किसी रहस्यमय तथा दैवी वस्तु की प्रतिनिधि है। विभिन्न प्रथाओं, सिद्धान्तों तथा जीवन के विभिन्न चरणों में मनुष्य अपने जीवन को बदलने में समर्थ रहस्यों के विषय में जो कुछ जानता या अनुमान लगाता है उसको प्रकट करने का प्रतीक पाता है। इस सम्बन्ध में हम यहाँ कुछ निम्न उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं :---

पूरे वैदिक समाज में विभिन्न प्रकार के कार्यों में बलिदान (त्याग) की धार्मिक प्रथा पायी जाती है। हम में अब प्रतीकवाद की भावना नहीं रही; इसीलिए हम इसे भौतिक या परम्परागत संस्कार मान लेते हैं। किन्तु वैदिक युग में बलिदान एक प्रतीक और देवताओं की पूजा था। बलिदान का वैदिक आदर्श उस मार्ग का द्योतक है, जिसपर चलकर मनुष्य आत्मा पर विजय प्राप्त कर सकता है। मनुष्य जो कुछ प्राप्त करता है या उसके पास जो कुछ है उसे उस सबको चेतना-शक्ति तथा देवताओं को, जो "ईश्वर" की शक्तियाँ हैं, अर्पण कर देना चाहिए क्यों कि ये देवतागण मनुष्य को भाई समझते हैं और उसकी सहायता करना चाहते हैं और अपनी शक्ति से हमारे विश्व को समृद्ध बनाना चाहते हैं। पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध का हमारे देश में जो आदर्श है, वह "पुरुष" और "प्रकृति" के संबंध का प्रतीक है। "सोमरस" कोई पेय पदार्थ मात्र नहीं अपितु दैवी देन का प्रतीक था। इसी प्रतीकवाद के कारण समाज में हर वस्तु को धार्मिक बना देने की भावना आयी। सब जगह आध्यात्मिकता की प्रधानता रही किन्तु सामाजिक नियम लचीले और स्वतन्त्र रहे; कारण "ईश्वर" को किसी विशेष सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता था। इसी तरह उपनिषदों,

महाकाव्यों तथा गीता में हम प्रतीकवाद की भावना देखते हैं; किन्तु साथ ही दूसरे युग का प्रारम्भ भी होता रहता हैं। मनोवैज्ञानिकता और नीति शास्त्रीयता धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता की पूरक और आदर्शवादी युग के आगमन की द्योतक रही है।

संस्कार – युग में धर्म नीति एवं अनुशासन को निश्चित आदेश माना जाता था। धर्म के ही कारण मनुष्य उस स्थित पर पहुंच जाता है, जहाँ उसके मस्तिष्क में सन्यास या इसी प्रकार की भावनाएं उत्पन्न होती हैं। जैसे बौद्ध धर्म में इच्छाओं का पूर्ण दमन किया जाता है और जीवन के प्रति सन्यास या विरक्ति की भावना को प्रोत्साहन दिया जाता है। परन्तु इस स्थिति में भी काम, धर्म, मोक्ष आदि मानवीय अनुभूतियाँ रहती हैं। यह बात भी मान ली गयी थी कि मनुष्य को स्वार्थमय जीवन का पूर्ण उपभोग कर लेना चाहिए; ताकि वह पूर्णतः सन्तुष्ट हो जाय और ऐसे जीवन में क्या–क्या असुविधाएं रहती हैं, इसका भी उसे अनुभव हो जाय। हमें अपनी इच्छा, वासना एवं स्वार्थ पर बहुत महत्व न देना चाहिए। यह भी बता दिया गया था कि धर्म की भावना एवं विचारधारा ने ही उच्च कोटि के काल में हमें नैतिक व सामाजिक जीवन की प्रेरणा दी। परन्तु यह "धर्म" लोगों में बलात् समता रखने वाला नहीं था। बुद्धिवादी, शक्तिशाली व्यक्ति, उत्पादक व्यक्ति, विद्वान्, पुरोहित, योद्धा, मजदूर और कारीगर सबके अपने अलग–अलग धर्म थे। प्रत्येक के स्वभाव अपने–अपने ढंग के होने चाहिए, उन ढंगों की पूर्णता का एक नियम होना चाहिए और उनके हर कार्य का एक सिद्धान्त होना चाहिए। प्रत्यक ढंग का सम्मान उसके कार्यों के गुण के अनुसार उनकी उचित सम्पन्नता में निहित है। अर्थ, काम और धर्म की बहुरूपता में भी एकरूपता होनी चाहिए। उच्च उद्देश्य के द्वारा ही यह एकरूपता प्राप्त की जा सकती है। मानवता की पूर्णता की चरमसीमा अमरत्व, मुक्ति एवं दैवत्व प्राप्त करना है। मानव जीवन को आध्यात्मिक एवं दैवी होना चाहिए। यही "मोक्ष" के आदर्श का महत्व है। किन्तु, हम उस युग में भी जीवन तथा धर्म के इन आदर्शों को विलुप्त होते हुए पाते हैं। वे जीवन की वास्तविकता के बजाय रस्म रिवाज बन जाते हैं।

इस प्रकार हम मध्य युग में आ पहुंचते हैं जिसमें रूढ़ियों को अधिक प्रमुखता दी जाती है और आध्यात्मिकता अधिकतर लोप हो जाती है। पुरोहित और पण्डित को "ब्राह्मण", सामन्तों को "क्षत्रिय", व्यापारी तथा धन–अर्जन करने वालों को "वैश्य" एवं आर्थिक गुलामों को "शूद्र" का नाम दिया जाता है। समाज और धर्म कठोर हो जाते हैं, शिक्षा परिपाटियों से बंध जाती है और मनुष्य उन्हीं रूढ़ियों

की जंजीरों में जकड़ जाता है जिनको उसी ने बनाया था। इसको रोकने के लिए अनेकानेक प्रयास किये गए। शंकराचार्य, रामानुज, कबीर, नानक तथा चैतन्य जैसे सुधारकों ने मनुष्य को उसके ऊंचे आदर्शों तथा लक्ष्यों का स्मरण कराने के प्रयत्न किए किन्तु वे आगे चलकर असफल रहे। रस्म-रिवाजों के घेरों ने नवीन गतिविधियों को अपने में फंसा लिया। इस प्रकार भारतवर्ष में मध्य युग का अन्त अन्धकार तथा दुर्बलता में होता है।

जब पुराने सत्यों का लोप हो जाता है और सामाजिक रूढ़िगत प्रथाओं के परिणामस्वरूप, भ्रष्टाचार, अराजकता एवं असफलता का जोर होता है, तभी विद्रोह अपना सिर उठाता है। यही विद्रोह सामाजिक निरंकुशता के विरोध के रूप में व्यक्तिवाद के युग का प्रभात होता है। यह तर्क का विद्रोह है। व्यक्तिवाद के अग्रदूत के रूप में तर्क का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम यूरोप में हुआ और उसने सब पर अपना प्रभुत्व कायम कर लिया। विज्ञान की सहायता तथा जीवन के प्रति भौतिकवादी दृष्टिकोण से इसने पुरानी रूढ़ियों को मिटा दिया। पश्चिमी पूंजीवाद एवं साम्राज्यवाद के साथ-साथ भारत में भी इसका आगमन हुआ।

व्यक्तिवादी युग प्रारम्भ में तर्क रूपी विद्रोह रहा और भौतिक विज्ञान की विजय एवं प्रगति इसकी पराकाष्ठा रही। इसके प्रादुर्भाव के समय लोगों को तर्क करने और किसी बात को न मानने की धुन रहती है। इसलिए भारत में जब आधुनिक काल का आगमन हुआ, लोग उन व्यवस्थाओं को मानने से इन्कार करने लगे जो १९ वीं शताब्दी के भारतीयों में आम तौर पर प्रचलित थी। लेकिन यह इतने उग्र रूप में हुआ कि भारत में इसकी जोरदार प्रतिक्रिया हुई और कई धार्मिक सुधारक और विचारक भौतिकवाद पर तर्क करने लगे।

अतः हम अब अपने सांस्कृतिक विकास के उस चरण में पहुंच रहे हैं जबकि चेतना-काल तर्क व विज्ञान के युग का पूरक बन सकता है। इस काल का उद्देश्य स्वतन्त्रता, और व्यक्ति को अपने विचारों से कार्य करने देना है। इस युग में आध्यात्मिकता का युग भी आता है। चेतना काल विज्ञान व तर्क की अतिशयोक्तियों का परिणाम है। इस काल का आगमन पहले तो इस कारण से हुआ कि बौद्धिक रुख और भौतिक विज्ञान अपनी सीमा को पार कर चुके थे। और फलस्वरूप मनोवैज्ञानिक ज्ञान की जोरदार बाढ़ में इनका लुप्त हो जाना आवश्यक था। द्वितीयतः बर्गसन का अन्तर्ज्ञान, नीत्से की जीवन की इच्छा और जर्मनी की वेदान्त सम्बन्धी विचार धाराओं जैसे आदर्श सिद्धान्त, तर्क बुद्धि के समस्त

सन्देहों के उत्तर देने के दावों को चुनौती देते हैं। तृतीयतः, जागृत पूर्व चेतनावाद एवं व्यवहारिक रूप में अध्यात्मवाद की ओर बढ़ रहा है। तर्क बुद्धि तथा उसका सहायक विज्ञान दोनों हमारी समस्याओं को हल करने में असफल रहे हैं। पश्चिम भी रोशनी पाने को लालायित है। अतः इस दिशा में पूर्व को पथ प्रदर्शन करना है। चेतना-काल के सिद्धान्त किसी सीमा तक शिक्षा के नये सिद्धान्तों में देखे जा सकते हैं। पहले, बालकों को बलात् शिक्षा प्राप्त कराया जाता था और बालक मन्त्रवत शिक्षा लेने को बाध्य होते थे। किन्तु नवीन-शिक्षा प्रणाली का उद्देश्य बालकों की बौद्धिक एवं नैतिक क्षमता को उच्चतम स्तर पर पहुंचाना होना चाहिए। और इसको बालकों के स्वभाव के मनोविज्ञान पर आधारित होना चाहिए। आगे चल कर क्रमशः ऐसी स्थिति आ जायेगी कि मनुष्य भी बच्चों के समान अपने में से ही सब कुछ ढूंढ़ निकालने को स्वतन्त्र छोड़ दिया जायेगा और उसके समक्ष ऐसा वातावरण उपस्थित रहेगा जिससे उसे वास्तविक आत्मा की खोज में सहायता मिलेगी।

अस्तु, भारतीय संस्कृति के विकास को मनोवैज्ञानिक रूप में अच्छी तरह समझा जा सकता है। प्रतीकवादी युग से लेकर हम आदर्शवाद, रूढ़ियुग और तर्कवाद के युगों से गुजरते हुये चेतना काल में पहुंचते दिखाई देते हैं। अब ऐसी आशा की जाती है कि निकट भविष्य में होने वाली भारतीय सांस्कृतिक क्रान्ति मनुष्य को आध्यात्मिक युग में पहुंचा देगी जहाँ मनुष्य विश्व एवं ईश्वर के साथ एक होकर आत्मानुभूति के द्वारा श्रेष्ठता प्राप्त कर लेगा और सीमा से परे ऊंचे उठ जायेगा।

१-"लाइफ डिवाइन" --श्री अरविन्द, वालु. १' पृष्ठ ३०
२-"दि ह्यूमन साइकिल"--श्री अरविन्द, पृष्ठ ९५
३-"ऐन ऐडवान्स्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया"--मजुमदार एवं अन्य, पृष्ठ, ४-५
४-"आवर हेरिटेज"--हुमायूं कबीर, पृष्ठ ९,
५-"ए ज्योग्राफिकल इण्ट्रोडक्शन टु हिस्ट्री"--लूशियन फेवर, पृष्ठ ३६८
६-"हिन्दू सिविलाइजेशन"--राधाकुमुद मुकर्जी, पृष्ठ ५७
७-"फण्डामेण्टल यूनिटी आफ इंडिया"--राधाकुमुद मुकर्जी, पृष्ठ ३९
८-"दि विजन आफ इंडिया"--एस. के. मित्रा, पृष्ठ ४५
९-"दि आर्या"--वालु. ४, नंद्व १, पृष्ठ २६

# अध्याय दूसरा

## प्राचीन संस्कृति

प्राचीन भारत के सांस्कृतिक विकास पर विचार करने के पूर्व उस समय के काल–निर्णय एवं राजनीति पर कुछ प्रकाश डाल देना उचित है। प्राचीन काल हड़प्पा तथा मोहेन्जोदड़ो की संस्कृति से प्रारम्भ होता है। इसका काल–निर्णय अभी तक निश्चित तो नहीं हो सका है परन्तु विभिन्न अधिकृत घोषणाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह काल ३२५० से २७५० वर्ष ईसा पूर्व के बीच में था। हम अब भी उस युग की राजनीति के सम्बन्ध में उस समय के हस्त–लेखों के अर्थ निकाले जाने की प्रतीक्षा में हैं।

वैदिक संस्कृति, वैदिक काल तथा उपनिषद्–काल के सम्बन्ध में भी भिन्न-भिन्न अनुमान लगाए गये हैं। इन्हींके आधार पर हम कह सकते हैं कि उक्त युग २५०० से १५०० वर्ष ईसा–पूर्व के बीच था। राजनीतिक दृष्टि से वैदिक काल ने कबायली, सरदारी और प्रजातान्त्रिक सभाओं का उत्थान देखा परन्तु उस समय प्रादेशिक सार्वभौमिकता के आधार पर राज्यों की स्थापना के प्रमाण नहीं मिलते। उपनिषद् काल में प्रादेशिक सार्वभौमिकता का जन्म हुआ और "भारतवर्ष" के विचार का प्रादुर्भाव हुआ। पुराणों के अनुसार इस युग में "मानववंश" तथा "एलवंश" नामक दो राज (सरदारी) समुदायों का जन्म हुआ। इन दोनों समुदायों के शासक क्रमशः "इच्क्ष्वाकु" तथा "पुरुव" थे। बाद में इक्ष्वाकु वंश में मांधाता, हरिश्चन्द्र, दशरथ और राम आदि प्रसिद्ध राजा हुए। परन्तु "ऐलवंश" आगे चल कर "यादव", "पौरव" आदि कई वंश शाखाओं में विभाजित हो गया। इन समुदायों के लोग क्रमशः यादव एवं पौरव कहे जाते थे। यादवों में प्रसिद्ध राजा कृष्ण तथा पौरवों में भरत हुए जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। पौरव वंश की आगे चल कर और कई शाखाएं हो गईं। कुरु वंश भी इसी वंश की शाखाओं में से एक है और इस वंश के लोग "कौरव कहे जाते थे" जो महाभारत में प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकाव्य –काल में भारत में कई राज्य थे। प्रादेशिक

सार्वभौमिकता की भावना फैल चुकी थी और पूरे देश को, राजनीतिक दृष्टि से एक राजा "सम्राट" के अधीन किए जाने और उसकी एक इकाई बनाने के प्रयास किए गए थे । इसी काल म "चक्रवर्ती" के विचार का जन्म हुआ था। इस दिशा में भरत, श्री रामचन्द्र एवं युधिष्ठिर द्वारा किए गए प्रयत्न प्रमुख हैं ।

बौद्ध धर्म व जन धर्म के युग (६००–४०० वर्ष ईसा पूर्व) में, कहा जाता है कि, उत्तर भारत में १६ राज्य स्थापित हो गए थे। इनमें महाजन पदों या राजाओं का शासन था। इन राज्यों के नाम अंग, मगध, काशी, कौशल, वृज, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पाँचाल, मत्स्य, सूरसेन, अश्मक, अवन्ती, गान्धार एवं कम्बोज थे। इन में से कुछ राज्यों में राजा का शासन था और कुछ में सभाओं द्वारा शासन होता था जो समय–समय पर अपना–अपना एक प्रधान चुन लिया करती थीं। उसको "राजा" की उपाधि दी जाती थी। इनमें से कुछ राज्य दो या इससे भी अधिक राज्यों के महासंघ थे । इस संघ में शामिल राज्यों की एक सरकार हुआ करती थी। अंग तथा मगध, मुख्यतः वर्तमान बिहार तथा बनारस के निकटस्थ काशी में थे, कौशल उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में एवं मल्ल तथा वृज्जी भी पूर्वी उत्तर प्रदेश में थे। वृज्जी में "विदेह" तथा "लिच्छवि" नामक दो राजवंश थे। लिच्छवि वंश ने भारत में जैन धर्म के प्रवर्त्तक महावीर को जन्म दिया। वत्स राज्य काशी के पश्चिम तथा चेदि राज्य आधुनिक बुन्देलखण्ड में था। वत्स की राजधानी प्रसिद्ध कौशाम्बी नगरी थी। कुरु तथा पाँचाल पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में थे। अवन्ती केन्द्रीय (मध्य) भारत में था और उसकी राजधानी उज्जैन थी। पंजाब के बिलकुल सिरे पर गान्धार राज्य था और इसकी राजधानी तक्षशिला थी जहाँ विश्व विख्यात विश्वविद्यालय था। आधुनिक पामीर तथा बदख्शाँ में कम्बोज राज्य था । इन राज्यों के अलावा और कई छोटे छोटे कबायली जिरगे थे जहाँ सामुदायिक (जातिगत) आधार पर उनकी अपनी-अपनी सरकारें थीं । कौशल के उत्तर में "शाक्य" राज्य इसी प्रकार का एक जिरगा था। दक्षिण में आन्ध्र तथा तामिल थे। इस युग में इन राज्यों में सर्वोच्च सत्ताधारी होने के लिए संघर्ष होते रहते थ और अजातशत्रु (५५२ वर्ष ईसा पूर्व) के अधीन मगध राज्य इन संघर्षों में प्रायः विजयी हुआ। बौद्ध एवं जैन धर्म के युग में भारत के ये ही मुख्य टकड़े थे ।

इसके पश्चात् हमारे देश में उच्चकोटि के युग का उदय होता है और काल या इतिहास सम्बन्धी अनिश्चितता का कुछ सीमा तक अन्त हो जाता है ।

राजनीतिक रूप में मगध निरन्तर आकर्षण का केन्द्र बना रहता है और इसी राज्य में पहले नन्द और उसके बाद मौर्य वंश होते हैं। नन्द वंश के राजत्व काल में (३२० वर्ष ईसा पूर्व) पंजाब पर सिकन्दर का आक्रमण होता है। ३२२ वर्ष ईसा के पूर्व चन्द्रगुप्त के अधीन मौर्यवंश राज का प्रारम्भ होता है और १८५ वर्ष ईसा पूर्व में इसका अन्त हो जाता है। इस वंश में चन्द्रगुप्त मौर्य (३२२–२९८ या ३०२ वर्ष ईसा पूर्व) तथा अशोक (२७३–२३२ वर्ष ईसा पूर्व) दो प्रसिद्ध राजा हुए। इस राजवंश के अधीन पुनः एक बार भारत में राजनीतिक एकता कायम हुई। इस राजनीतिक एकता के परिणाम स्वरूप भारतवासियों में राजनीतिक एवं सांस्कृतिक चेतना बहुत ही ऊंचे स्तर पर पहुंच गई तथा संस्कृति व शासन दोनों क्षेत्रों में बड़े बड़े परीक्षण एवं नए–नए परिवर्त्तन हुए। इसके फलस्वरूप इस युग की आधुनिक काल से अच्छी तरह तुलना की जा सकती है।

मौर्य साम्राज्य के छिन्न–भिन्न होने के बाद भारत में फिर कई स्वतन्त्र राज्य हो गए और मगध में १८५ वर्ष ईसा–पूर्व से सन् २२५ (ईसोपरान्त) तक सुण्य तथा कण्व राजवंश हुए। इसी समय भारत में शक, यवन (बैक्ट्रियन एवं पार्थियन), यें-चिस की एक शाखा कुशन आदि विदेशी जातियों का प्रवेश हुआ। इसी समय दक्षिण तथा मध्यभारत में सत्वाहन राजवंश का उदय हुआ। इसी वंश के राजाओं में एक प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य हुए जिन्होंने शकों पर विजय पायी थी। इन विदेशी जातियों के राजाओं में सबसे अधिक प्रसिद्ध कनिष्क हुआ जिसने लगभग सन् १२० या ७८ में राज्य किया। कनिष्क के शासन काल में पुनः उत्तरी भारत के वृहत् भाग में राजनीतिक एकता आई और देश में साँस्कृतिक क्रान्ति हुई। इसके पश्चात् पुनः भारत में विभिन्न राजवंशों में लड़ाइयाँ हुईं जिनमें शकों सत्वाहनों की लड़ाई प्रमुख थी।

कुछ समय पश्चात् भारत में गुप्त वंश के अधीन सन् ३१९ या ३२० में (ईसा के बाद) एक नए साम्राज्य का उदय होता है जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र (पटना) में थी। गुप्त राजवंश का शासन काल भारतीय संस्कृति का स्वर्ण युग कहलाता है। इस वंश में सबसे प्रसिद्ध राजा समुद्रगुप्त (३४०–३८० ईसा के बाद) तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय (३२०–४१५ ईसा के बाद) हुए। इन राजाओं ने भारत में पुनः राजनीतिक एकता कायम की और भारतीय संस्कृति पर उनका संरक्षण रहने के कारण यह एकता सबसे

ऊँचे स्तर पर जा पहुंची। चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद भारत में एक दूसरी विदेशी जाति हूणों के आक्रमण होने लगे। यहीं गुप्त साम्राज्य का ह्रास होने लगा। यद्यपि इसका अस्तित्व सन् ५२८ (ईसा के बाद) तक रहा। भारत के अन्य भागों में भी कई राजवंशों का उदय हुआ जिनमें "चालुक्य" सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए।

इसी दरम्यान उत्तर में प्रभाकर वर्द्धन के आधीन थानेश्वर राजवंश का उदय हुआ। इस वंश के राजा हर्ष के राजत्व काल में उत्तर भारत पुनः एकता के सूत्र में बंध गया। हर्ष ने सन् ६०६ से ६४७ (ईसा के बाद) तक राज्य किया। साँस्कृतिक रूप में उच्च कोटि के युग की यह चरम सीमा थी। इस प्रकार हमारे प्राचीन काल का अन्त होता है जिसकी सांस्कृतिक प्रगति पर हम आगे प्रकाश डालेंगे।
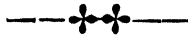
# तृतीय अध्याय

## सिन्ध घाटी की सभ्यता

भारतीय तथा पश्चिमी पुरातत्व वेत्ताओं ने हाल में पंजाब तथा सिन्ध (सिन्धु नदी क्षेत्र) में जो खोजें की हैं उनमें भारत के अतीत की सबसे प्रारम्भिक कहानी प्रकट हुई है। इसलिए इस संस्कृति को "सिन्ध घाटी की सभ्यता" का नाम दिया गया है। इस सभ्यता के अवशेष अभी तक पश्चिमी पंजाब के मांटगोमरी ज़िले में हड़प्पा में तथा मध्य सिन्ध में स्थित लरकाना से लगभग २५ मील दक्षिण मोहेन्जोदड़ो (मृतक-नगर) में पाए गए हैं। उसी युग से सम्बन्धित अन्यान्य स्थान भी खुदाई में पाए गए हैं। उदाहरण के लिए बलूचिस्तान में "नल", सिन्ध में अमरी, झूकर, लोहमजो-दड़ो तथा चन्हदड़ो तथा पंजाब में कोटला एवं निहंग। प्रसिद्ध अन्वेषक सर आरेलस्टीन ने एक ऐसी प्राचीन सड़क का पता लगाया है जो मकरान तट के मार्ग से होकर उत्तर-पश्चिमी भारत और बलूचिस्तान तथा ईरान से मेसोपोटामिया तक के प्रगैतिहासिक कालीन नगरों में से होकर गुजरती थी। मोहेन्जोदड़ो स्थित नगर के प्रागैतिहासिक स्वरूप को अनुभव करने का श्रेय आर० डी० बनर्जी नामक उस भारतीय को दिया जाना चाहिए जिन्होंने सन् १९२२ में इन अवशेषों को खोज निकाला था। भारत के पुरातत्व विभाग के तत्कालीन संचालक ( Director ) सर जान मार्शल को इस दिशा में आगे और भी खोज करने की प्रेरणा श्री बनर्जी द्वारा प्रस्तुत किए गये विवरणों से भी मिली थी। उसी समय से अंग्रेज, अमरीकी तथा अन्य पुरातत्ववेत्ताओं का एक दल पश्चिमी भारत के भिन्न-भिन्न स्थानों पर अवशेषों की खोज में व्यस्त है। वास्तव में सर जान मार्शल का यह विश्वास है कि यद्यपि नगरों का निर्माण नहीं हुआ था तथापि इस संस्कृति का प्रसार गंगा घाटी तक हुआ था। प्रोफेसर चाइल्ड का संकेत है कि इस सभ्यता का प्रभाव मिस्र या सुमेर से बहुत अधिक वृहत् क्षेत्र में रहा होगा। हड़प्पा में जो वस्तुएं पायी गयी हैं वे मोहेन्जोदड़ो में प्राप्त वस्तुओं से पूर्णतः मिलती-जुलती हैं।

## काल

यह सभ्यता किस काल में थी यह पूर्णतः निश्चित तो नहीं हुआ है परन्तु इस सभ्यता तथा उन पुरानी सभ्यताओं में सामंजस्य पाया गया है जिनके काल का उल्लेख इतिहास में है। इन सभ्यताओं में मेसोपोटामिया, पश्चिमी फारस, मिस्र तथा सेस्टन की पुरानी सभ्यताएं हैं। इन स्थानों में पायी गयी वस्तुओं में कुछ विशेष सामंजस्य पाए गए हैं। इसे ईसा से ४००० वर्ष पूर्व के निकट इन देशों में हुए व्यापक समागम का परिणाम कहा जा सकता है। इन वस्तुओं में मेसोपोटामिया में प्राप्त सिन्ध-घाटी के बनावट की वे "पाँच मुद्रायें" सबसे मुख्य हैं जिन पर लेख तथा एक कुबड़ा साँड़ अंकित है। इनमें से दो मुद्राएं २८०० वर्ष (ईसा पूर्व) के पूर्व काल की हैं। डा० आर० के० मुकर्जी ने "हिन्दू सिविलाइज़ेशन" नामक अपनी पुस्तक में ३२५०–२७५० वर्ष (ईसा पूर्व) के बीच के समय को इस सभ्यता का युग बताया है। इस विषय पर डा० ई० मैके ने भी खोज की है। उनके अनुसार बग-दाद के समीप "तेल अज्मर" में पायी गयी बेलन के समान मुद्राएं मोहेञ्जो-दड़ो के ऊपरी भागों में पायी गयी मुद्राओं से मिलती–जुलती हैं और वे निश्चित रूप में भारतीय कारीगरों द्वारा निर्मित हैं। अज्मारा नगर को २४०० वर्ष ईसा पूर्व का बताया गया है। यह दिलचस्प बात है कि उक्त मुद्राओं पर हाथी, गेंडा और घड़ियाल जैसे भारतीय पशु अंकित पाये गए हैं तथा उनकी बनावट भी भारतीय है। मुद्राओं के अतिरिक्त इस स्थान में गोला कार आकृति के वे बर्तन भी पाये गये हैं जिनका प्रचलन भारत में ही पहले हुआ था। उत्तर–पूर्वी यूनान में एक सतिया का निशान मिला है जो मोहेञ्जोदड़ो में प्राप्त एक मुद्रा पर अंकित निशान से मिलता–जुलता है। मिस्र की मालाएं सिन्ध घाटी के अवशेषों में प्राप्त मालाओं से मिलती–जुलती हैं। अस्तु, डा० मैके का विश्वास है कि २५०० वर्ष (ईसा पूर्व) पहले मोहेञ्जो-दड़ो की संस्कृति का प्रसार था। हड़प्पा की सभ्यता इससे भी पुरानी है इसलिए इसका युग मोहेञ्जोदड़ो की सभ्यता के पहले रहा होगा। इसलिए संभवतः डा० आर० के० मुकर्जी का दृष्टिकोण ही सही है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मोहेञ्जोदड़ो हड़प्पा से छोटा नगर रहा होगा। किन्तु इसके बावजूद भी इसका क्षेत्रफल करीब एक वर्ग मील का रहा होगा यही नहीं इसका क्षेत्रफल इससे भी बड़ा होगा क्योंकि इसके उपनगर सिन्धु नदी के रेत में दब गए हैं। सिन्धु नदी की तलहटी लगभग २० या इससे अधिक

फीट ऊंची हो गयी है और इसलिए इस सभ्यता के सबसे प्रारंभिक स्तर की खोज करना बिलकुल असम्भव है ।

मोहेंजो-दड़ो एक वृहत् टीले के रूप में है । इसके उत्तर तथा पूर्व में कई छोटे-छोटे टीले हैं । ये टीले हल्के लाल रंग के हैं । ये नगर पक्के ईंटों के बने थे । इन नगरों को किन लोगों ने बनाया था इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता और न उनकी कोई पहिचान बतायी जा सकती है । उनकी कौन भाषा थी इसको भी अभी तक स्पष्ट नहीं किया गया है ।

## भाषा

परन्तु विभिन्न प्रकार के अनुमान अवश्य लगाये गये हैं । कहा जाता ह कि मुद्राओं पर अंकित लेख चित्रवत है और वे बेबीलोनिया के प्रोटोएलामाइट लिपि से बहुत मिलते-जुलते हैं । फादर हेरास, एस० जे०, इस लिपि को प्रोटो द्रविड़ जैसी मानते हैं । इन लेखों की लिखावट शब्दों के संकेतों से बनी हैं किन्तु वे हैं निश्चयात्मक एवं स्पष्ट ।" "दि इण्डियन स्क्रिप्ट एण्ड दि तान्त्रिक कोड" के "बर्न" व कुछ भारतीय लेखकों ने हड़प्पा की मुद्राओं पर बने हुए जानवरों में उन स्वरों के लिखावट के लक्षण पाए हैं जिनका तान्त्रिक ग्रन्थों में प्रयोग किया गया है । मुद्राओं के तथा अन्य लेखों, बर्त्तन तथा चूड़ियों, ताम्र पत्रों के लेखों में इस लिपि के ३९६ चिन्ह पाए गए हैं । लिखने के ढंग आम तौर से दाएं से बाएं पाये गये हैं ।

## निवासी

इन नगरों के निवासी कौन थे ? मोहेञ्जोदड़ो में जो मानव-अवशेष पाये गये हैं वे प्रोटोऑस्ट्रोलायड (जिनके प्रतिनिधि कोल आदि हैं), भूमध्यसागरीय (आधुनिक लम्बे सिर वाले हिन्दुस्तानी), मंगोलियन तथा आलिपनियन (जिनके प्रतिनिधि गुजराती, मराठा, बंगाली आदि हैं ।) नामक चार जाति के लोगों के बताये गये हैं । इन सब बातों से ज्ञात होता ह कि इन नगरों के निवासी एशिया के भिन्न-भिन्न भागों से आए हुए विश्व भर को अपना देश मानने वाले थे और वे "वसुधैव कुटुम्बकम्" सिद्धान्त को मानते थे । यह भी बताया जाता है कि ये लोग द्राविड़ या इसीकी शाखा-जाति के थे । कुछ भी हो, जो अवशेष पाए गए हैं उनसे पता चलता है कि इन लोगों की सभ्यता बहुत

ऊंची थी और इनकी संस्कृति पश्चिमी एशिया के "एलम" या "सुमेर" की संस्कृति से ऊंची थी। ये लोग सम्भवतः कागज़ के स्थान पर पेड़ों की छाल, रूई के वस्त्र, चमड़ा और ताड़ के पत्तों का प्रयोग करते थे। ये काफी समय से भारत में रहते आ रहे थे। हमें उनके विषय में जिस समय की जानकारी है उस समय तो वे पूर्ण सभ्य एवं सुसंस्कृत थे। न केवल सुनिर्मित नगर अपितु उनका धर्म (पशु व मूर्ति पूजन) भी इस बात के प्रमाण हैं कि वे पश्चिमी एशिया के सभ्यता के लोग नहीं थे। पहले तो ऐसा माना जाता था कि वे लोग शान्तिप्रिय थे क्योंकि तत्कालीन युद्धों में नगरों के जलाये जाने के प्रमाण नहीं पाये गये थे, परन्तु अब किलेबन्दियाँ भी प्राप्त हुयी हैं। प्राप्त प्रमाणों से ज्ञात होता है कि सिन्धु के मार्ग –परिवर्तन से इन नगरों का पतन हो गया। सम्भवतः नदी की बाढ़ में वे डूब कर विलीन हो गए। इन स्थानों में मन्दिर नहीं पाये गये हैं।

## शिल्प विद्या तथा भवन निर्माण कला

उपयुक्त नगरों की नीवों को देखने से ऐसा पता चला है कि वे पूर्वा-योजित योजना के आधार पर डाली गयी थीं। उदाहरण के लिए, मोहेञ्जो-दड़ो की सड़कें सीधी बनी हुई हैं और लम्ब कोण के रूप में एक सड़क दूसरी से मिली हैं। ये सड़के इस बात की द्योतक हैं कि उस जमाने में नगरों के विकास की सुयोजनाएं बनाई जाती थीं और विकास-योजनाओं के नियन्त्रण के लिए अधिकारी होते थे। नगर निर्माण योजनाओं के साथ –साथ एतद्विषयक सख्त नियम (कानून) भी बने हुए थे ताकि सड़कों पर कोई भी भवन न बनाया जा सके। उस युग के सुन्दर व सुनिर्मित भवनों तथा उनके निर्माण की कला को देखकर ऐसा आभास मिलता है कि उस युग के लोग अत्यधिक समृद्धिशाली थे। ये मकान ईंट–पत्थरों के बने हैं। सफाई तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी देख रेख पर उचित ध्यान रखा जाता था। उदाहरणार्थ, उक्त सड़कें पूर्व से पश्चिम या उत्तर से दक्षिण को गयी हुयी थीं ताकि चौड़ी सड़कों पर चलनेवाली उत्तरी या दक्षिणी हवा छोटी गलियों या सड़कों की हवा को अपने साथ ले ले। इस व्यवस्था से नगरों में लोगों को खूब हवा मिलती थी। सड़कें खूब चौड़ी थीं और सबसे मुख्य सड़क ३३ फीट चौड़ी पायी गयी है। पक्के ईंटों से बने हुए इन मकानों में सादगी है और कोई सजावट नहीं है। जहाँ तक पता चलता है, इन मकानों में खिड़कियाँ नहीं थीं और दरवाजे संकीर्ण स्थानों में थे। सुरक्षा की दृष्टि से इन नगरों को अनेक भागों, वार्डों में, विभाजित किया गया था। इसके प्रमाण मिले हैं कि इन नगरों में पुलिस की व्यवस्था भी थी। ये मकान

दो मंजिल या इससे अधिक मंजिलों के थे । घड़े और अन्य प्रकार के बर्तनों का भी प्रयोग होता था और लकड़ी की अलमारियों का भी इस्तेमाल किया जाता था। बिस्तर, चारपाई, औजारों तथा सन्दूक का भी प्रयोग होता था। यद्यपि अधिकाँशतः भोजन आंगन में पकाया जाता था फिर भी छोटे-छोटे रसोई घर भी थे। उक्त नगरों के समस्त भवनों में समुचित ढंग पर बनी नालियाँ और स्नानागारों को देखने से इस बात का प्रमाण मिलता है कि वहाँ के निवासी सफाई एवं स्वच्छता की सुन्दर व्यवस्था रखते थे और इसका बड़ा ध्यान रखते थे कि कहीं भी गन्दगी न होने और न रहने पाये। प्रत्येक सड़क व गली के दोनों ओर ईंटों की बनी हुई नालियाँ थीं और उनको इस ढंग से बनाया गया था कि उनसे सड़कों पर चलने वाले लोगों को कष्ट न हो। मकानों से निकला हुआ गन्दा पानी पहले गड्ढों में एकत्र होता था। जब वह गड्ढे भर जाते थे और कूड़ा-करकट नीचे जम जाता था तब वह गन्दा पानी मुख्य सड़कों की नालियों में बहता था। इस तरीके से नालियों के पानी को सड़कों पर बह निकलने में जबर्दस्त रुकावट थी। बरसात का पानी ले जाने के लिए उपनगरों में ईंटों की बड़ी-बड़ी नालियाँ बनी हुई थीं। ये सभी बातें इस बात की प्रमाण हैं कि उस समय उच्च कोटि की सभ्यता थी और लोगों में सफाई आदि रखने की ( Sanitation ) कला का पूर्ण ज्ञान था। मोहेन्जोदड़ो एवं हड़प्पा में जो कुएं हैं उनसे इस बात का भी प्रमाण मिलता है कि उस समय लोगों को पीने का पानी पहुंचाने की भी सुन्दर व्यवस्था थी। उक्त भवनों को देखने पर ऐसा विदित होता है कि उस समय प्रशासन की भी सुन्दर व्यवस्था थी, व्यापारी वर्ग, राजमजदूर और कारीगर वृहत् संख्या में थे। सम्भवतः उस समय दासों की भी प्रथा थी। सबसे सुन्दर तथा दिलचस्प ईमारतों में एक वृहत् सार्वजनिक स्नानागार है जो पक्की ईंटों का बना हुआ है और ३९ फीट ३ इंच लम्बा तथा २४ फुट २ इंच चौड़ा है। इस स्नानागार की प्रत्येक, सीढ़ी १६ इंच ऊंचा और ३९ इंच चौड़ा चबूतरा है। स्नानागार के ऊपर चारों ओर पत्थर की बड़ी दालान सी बनी हुई है। इसके चारों ओर दीवाल है और वह कुछ जगहों पर खुली हुई है। ऐसी जगहों पर कुछ मठ जैसे स्थान बने हुए हैं और उनके बाहर अनेक कमरे भी बने हुए हैं। सीढ़ियाँ घुमावदार हैं। इसके पश्चिमी छोर पर एक वृहत् गड्ढा बना हुआ है जहाँ से पानी नाली में होकर जाता है। स्नानागार के पूर्व के एक कमरे में, जिससे मुख्य सड़क पर बाहर भी जाया जा सकता है, एक भारी कुआँ है। इस स्नानागार को देखने से पता चलता है कि उस युग के नगरों में उष्ण वायु स्नान का भी सुन्दर प्रबन्ध था। इस वृहत् स्नानागार के उत्तर में स्नान करने के

कई कमरे बने हुए हैं जिनमें ऊपर जाने के लिए सीढ़ियाँ हैं। किसी भी कमरे का दरवाज़ा दूसरे कमरे के सामने नहीं बना हुआ है। इसलिए बाहर के लोग कमरों के अन्दर नहीं देख सकते थे। संभवतः ये कमरे पुरोहितों के लिए बनाये गये थे और इनके ऊपरी मंजिल में कोष्ठ बने हुए थे। संभवतः उस युग के लोग स्नान को बहुत आवश्यक मानते थे। सड़कों के चौराहे पर बनी ईमारतें इस बात की प्रमाण हैं कि ये होटल या भोजनालय थे जहाँ व्यापारी या अन्य लोग एक दूसरे से मिल कर व्यावसायिक सौदे करते थे या सहभोज व सत्संग का आनन्द लेते थे। सीमान्त नगरों में पत्थर का प्रयोग होता था।

## धर्म

धर्म के प्रमाण किसी दस्तावेज़ (कागज़ात) में नहीं प्रत्युत जमीन में से निकाली गयी मुद्राओं, मूर्तियों तथा अन्य सामग्रियों में पाये गये हैं। पत्थर की केवल एक मूर्ति अभी तक पायी गई है जिसका सिर सफेद रंग का है। यह त्रिमूर्ति है जो ब्रम्हा, विष्णु, महेश की प्रतीक है। लोग शंकर जी की पूजा भी करते थे। परन्तु खुदाई में पाई गयी अन्य मूर्तियों में देवताओं की कम तथा देवियों की अधिक हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि लोग उस समय शक्ति के उपासक थे। वे योग और जादू, टोने, ताबीज़ आदि में विश्वास करते थे यह भी खुदाई में प्राप्त सामग्रियों से विदित होता है। उपर्युक्त त्रिमूर्ति की छोटी दाढ़ी है और मूंछ के बाल नहीं हैं। सिर के ेिच में बाल हैं जिनके दो सिरे पीछे की ओर लटकते हुए हैं। उस समय के लोग गुलूबन्द पहनते थे इसके भी चिन्ह पाये गये हैं। उक्त त्रिमूर्ति की आँखें अधखुली हैं जिससे योग के प्रचलित होन का आभास मिलता है। जो असंख्य बर्त्तन पाये गये हैं उन देवियों के जो चित्र अंकित हैं वे इस बात के द्योतक हैं कि प्राचीन काल में निकट तथा मध्य पूर्व में देवियों की पूजा होती थी। मिट्टी की जो मूर्तियाँ पायी गयी हैं उन पर बकरे या साँड़ की सींगें अंकित हैं जो पशुओं की पूजा की प्रथा प्रचलित होने की प्रमाण हैं। दो या अधिक देवताओं के संयोग व उनमें एकरूपता भी पायी गयी है। खुदाई में प्राप्त मुद्राएं, पत्थर, बर्त्तन आदि हड़प्पा के निवासियों के धार्मिक विश्वास सम्बन्धी हमारे ज्ञान के भण्डार हैं। सबसे दिलचस्प वह नग्न मूर्ति है जो एक तिपाई पर पद्मासन से बैठी है और जिसके सींगें तथा तीन मुख हैं। इसके चारों ओर हरिन, गेंड़ा, हाथी, चीता, शेर और भैंसे आदि कई जानवर बने हैं। इस मूर्ति के दोनों भुजाओं में अनेक चूड़ियाँ हैं और इसके सिर से सींगों के बीच में एक ऐसा वस्त्र है जिसकी आकृति

साँड़ या भैंसे जैसी हैं। खुदाई में ऐसी तीन मूर्तियाँ मिली हैं जिन पर यह देवता अंकित है। सर जान मार्शल इसे पशुपति (पशुओं के देवता) के रूप में शिव मानते हैं।

एक दूसरी ऐसी ताबीज पायी गयी है जिस पर एक पीपल या अंजीर के वृक्ष के नीचे एक सींगदार देवी अंकित है। इसके सामने एक दूसरी सींगदार मूर्ति बनी है जो घुटनों के बल झुक कर उसकी आराधना (पूजा) कर रही है। इस ताबीज के नीचे दूसरी कई देवियों की मूर्तियाँ अंकित हैं। इन मूर्तियों में से प्रत्येक के सिर पर एक-एक कमानी और पीछे वालों की लम्बी चोटी है परन्तु इनके सींग नहीं हैं। यह मूर्तियाँ शीतला देवी तथा उनकी ६ बहिनों की द्योतक हैं। खुदाई में प्राप्त पत्थर की वस्तुओं से भी मालूम होता है कि उस समय के लोग पशुओं की मूर्तियों की पूजा करते थे। एक देवी के साथ अनेक शेर भी, उक्त ताबीजों पर, अंकित हैं। एक साँप की टेढ़ी-मेढ़ी मूर्ति भी पायी गयी है। कबूतर पवित्र पक्षी माने जाते थे। इन मूर्तियों में देव लोग (अर्द्ध देवता) पशुओं से लड़ते हुए दिखाये गये हैं सूर्य को सर्वश्रेष्ठ देवताओं में माना जाता था। मन्दिरों में पशुओं एवं मनुष्यों की मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। नृत्य करती हुई एक बालिका की काँसे की मूर्ति भी मिली है जिससे ज्ञात होता है कि मन्दिरों में नृत्य करने की भी प्रथा प्रचलित थी। अवशेषों से यह भी पता चलता है कि उस समय भी मृत व्यक्ति के शव जलाए जाते थे। यद्यपि आम तौर पर मुर्दे गाड़े जाते थे।

मोहेञ्जोदड़ो तथा हड़प्पा में खुदाई में प्राप्त उपर्युक्त प्रमाणों से विदित होता है कि आधुनिक भारतीय सिद्धान्तों एवं प्रथाओं में से अनेक प्राचीन काल से ही चले आ रहे हैं। सिन्ध घाटी की सभ्यता में हम शक्ति, शिव, तथा उनके साथियों, चीता, शेर, साँड़, बकरे, साँप आदि पशुओं तथा पीपल और नीम जैसे वृक्षों की पूजा की प्रथा प्रचलित पाते हैं। परन्तु साँड़ या सींगदार देवता के पूजन की प्रथा इनकी मौलिक थी। यह स्थिति "सुमेर" सभ्यता के समकालीन थी। यह भी कहा जाता है कि चतुर्भुज देवताओं की मूर्तियाँ ब्रम्हा, विष्णु आदि की द्योतक हैं और जो देवता सीधे खड़े हुए अंकित हैं वे योग के कायोत्सर्ग आसन में जैन योगियों के प्रतीक हैं। यदि यह सत्य है तो जैन तथा शैव इन दो धर्मों को सबसे प्राचीन माना जाना चाहिए। ये दोनों धर्म सिन्ध घाटी की ओर उसके बाद की भारतीय सभ्यताओं की खाई को पाट सकते हैं।

## आभूषण और पोशाक

मिट्टी की मूर्तियों को जिन वस्त्रों में दिखाया गया है उन्हें उस समय की स्त्रियों की सामान्य पोशाक माना जाता है। इन मूर्तियों में कमर तक कोई पोशाक भी नहीं है और वे केवल एक बहुत छोटा-सा घाघरा पहने हुए हैं। यह घाघरा कमर में पड़े एक पट्टे में गुंथा हुआ है। यह पट्टा बुने हुए वस्त्र का बना प्रतीत होता है। एक मूर्ति शरीर के पूरे ऊपरी भाग में लिपटी हुई एक चादर ओढ़े हुए है। संभवतः रुई के बुने हुए कपड़े का पहनावा ये शिर पर भी पहनते थे। कुछ मूर्तियाँ गर्दन पर विचित्र एवं खूब कसा हुआ पट्टा पहने हैं। अस्तु, यह जानना कठिन है कि उस समय के लोग कौन सा पहनावा पहनते थे।

पुरुष की मूर्तियाँ आम तौर पर नग्न पायी गयी हैं। उस समय के पुरुष संभवतः बाँए कंधे के ऊपर से दाँए कंधे के नीचे तक एक चादर या दुपट्टा लपेटा करते थे। उपर्युक्त त्रिमूर्ति में यह पहनावा दिखाया गया है। हड़प्पा में एक गमले पर एक पुरुष की जो मूर्ति पायी गयी है उसमें उसे कसी हुयी धोती अथवा चूड़ीदार पायजामा जैसी पोशाक पहने हुए दिखाया गया है। पैर में जूतों जैसी कोई चीज पहनी जाती थी। इसके प्रमाण नहीं मिले हैं। रूई का प्रयोग तो होता था परन्तु सन (जूट) या ऊन के प्रयोग किए जाने के कोई प्रमाण नहीं मिले हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय के लोग बालों को सवाँरने तथा आभूषण व जवाहरात पहनने के प्रेमी थे। उक्त स्थानों की खुदाई में विभिन्न प्रकार के आभूषण (पत्थर, सोना, चाँदी आदि के) पाये गये हैं। लोगों के बाल सवाँरने के भिन्न-भिन्न ढंग थे। एक मूर्ति में बालों के बीचोबीच माँग कढ़ी हुई है और सिर के पीछे की ओर लटकती हुई चोटी है। कुछ मूर्तियों में बालों को एकत्रित करके गुच्छे के रूप में बंधा दिखाया गया है। कुछ में सिर के ऊपर बालों का एक गोलाकार घेरा सा बना दिया गया है और इसी प्रकार के घेरों में कान छिपा दिये गये हैं। घुंघराले बाल भी पाये गये हैं। दाढ़ी के बाल भी विभिन्न ढंग से संवारे हुए देखे गये हैं।

उस समय के लोग सोना–चाँदी, दोनों के मेल से बने, ताँबा, काँसा आदि धातु तथा पत्थर के विभिन्न प्रकार के आभूषणों का प्रयोग करते थे। इन

आभूषणों में करधनी, गुलूबन्द, ब्रेसलेट, हार, चूड़ियाँ, अंगूठी, कर्णफूल (ईयरिंग) बालों में लगाये जाने वाले पिन आदि सभी प्रकार के थे ।

## रस्म–रिवाज व मनोरंजन

कंघियों, बटन, शीशा आदि का प्रयोग उस युग में आमतौर पर किया जाता था, गालों तथा होठों में लाल रंग एवं आँखों में किसी काली वस्तु का आम प्रयोग होता था। कुछ रंगों का भी इस्तेमाल किया जाता था और चेहरे पर पाउडर भी लगाया जाता था ।

बाल बनाने (क्षौर कार्य) के लिए स्त्री एवं पुरुष दोनों ही महीन उस्तरों का प्रयोग करते थे। उस युग के लोग न केवल फैशनपरस्त और आभूषण, रत्नादि के ही प्रेमी थे वरन् उनके बच्चे काफी अच्छे अच्छे खिलौनों का खेल खेलते थे। मिट्टी की सीटियाँ, छोटे पत्थर, गुड़ियाँ, सिर हिलाते हुए जानवर, दो पहियों की बैलगाड़ी और संगीत विषयक वाद्ययन्त्र आदि विभिन्न प्रकार की वस्तुएं खुदाई में पायी गयी हैं। वे लोग बच्चों को बहुत प्यार करते थे। लोग जुआ भी खेलते थे क्योंकि पाँसे भी मिले हैं। मिस्र के प्राचीन खेल "सेन्ट" से मिलता–जुलता एक खेल भी खेला जाता था जिसपर आदमी चलाए जाते थे और पाँसे का प्रयोग किया जाता था। संभवतः इस तख्ते में २६ खाने रहते थे। तख्ते के एक सिरे पर तीन कतारों में १२ और दूसरे सिरे पर २ कतारों में १२ और बीचोबीच दो खाने होते थे । छोटे–छोटे पत्थरों और छड़ों से भी खेल खेले जाते थे। नृत्य का भी अत्यधिक प्रचलन था। संगीत संबंधी बाजों में ढोल (Drum), तम्बूरे, खड़ताले, चंग, बीन आदि वस्तुएं पायी गयीं हैं। लोग मछली खाने वाले तथा शिकार एवं मछली के शिकार के शौकीन थे। बनैले सुअर का शिकार भी होता था। संभवतः तीतर, बटेर, कौवों की लड़ाई का खेल भी बहुत प्रचलित था। इन लोगों को लड़ना सिखाया भी जाता था। लोग चटाइयों पर बैठकर थालियों में भोजन करते थे । कुर्सी और मेजों को भी पहचाना जा चुका है और उस युग में इनका भी खूब इस्तेमाल होता था । खुदाई में चम्मच और प्याले भी मिले हैं। देश में फलों की भी आमद और बिक्री होती थी। कर्नल सीवेल का कथन है कि सींगों को पीस कर औषधि के रूप में प्रयोग होता था । तिल्ली, लीवर, और पेट के विभिन्न रोगों की औषधि शिलाजीत भी प्राप्त हुयी है । संक्षेप में आचार–व्यवहार, रस्म–रिवाज, मनोरंजन की व्यवस्था आदि की दृष्टि से उस सभ्यता के लोग काफी आगे बढ़े हुए और विकसित थे ।

# कलाकौशल एवं शिल्प विद्या

सिन्ध घाटी के लोग सजावटदार ( नक्क़ाशीदार ) और सादे परन्तु विभिन्न प्रकार के बर्त्तन आदि बनाते और उनका प्रयोग करते थे। बटन, हुक आदि सभी छोटी–छोटी वस्तुओं में हल्के लाल रंग की किनारी, (कन्नी) बनी हुयी है और उस पर काले रंग की तरह–तरह की नक्क़ाशी की गयी है। नक्क़ाशियों में पशु, पक्षी, वृक्ष आदि बने हुए हैं। इन बर्त्तनों में सबसे बढ़िया वह नक्क़ाशी है जिसमें छोटे–छोटे वृत्तों की नथी हुई जंजीरें दिखाई गयी हैं। इन बर्त्तनों के आकार कई प्रकार के हैं और इनके बनाने की कला पूर्ण विकसित रूप में है। प्रारंभिक कला के प्रमाण नहीं मिले हैं। पीने, खाने, गहने रखने आदि सभी कामों में इस्तेमाल होने वाले बर्त्तन मिले हैं। बर्त्तन मिट्टी के बनते थे। नल, पहिए, करघे के पेच, ब्रेसलेट और मूर्तियाँ भी मिली हैं। ताँबे का विभिन्न रूप में प्रयोग होता था इसलिए इस युग को लौह युग के पहले का ताम्रयुग कहा जाता है। चकमक तथा हल के फार के अतिरिक्त अन्य कई पत्थर के औजार नहीं मिले हैं। प्रस्तर मूर्तियाँ बहुत ही कलापूर्ण हैं।

सिन्ध घाटी के निवासी कला की दृष्टि से ताबीजों के बनाने में सबसे अधिक सफल रहे हैं। ये ताबीजें आधी इंच से लेकर २॥ वर्ग इंच तक की हैं। इनकी दो किस्में हैं। पहली चौकोर जिसमें एक वक्र पशु और लेख लिखा है। दूसरी में केवल लेख लिखा हुआ है ओर यह समकोण आकृति की है। इन पर विभिन्न प्रकार के दृश्यों तथा जानवरों के सुन्दर चित्र अंकित हैं। मनुष्य और जानवरों के सभी चित्र बड़े कलापूर्ण हैं और सफाई के बने हैं। रोग़न का भी प्रयोग होता था। असाधारण कलाकौशल की विभिन्न वस्तुएं भी पायी गयी हैं जिनमें दो बन्दरों के चित्र बड़े ही सुन्दर हैं। हाथी दाँत का भी प्रयोग होता था और उनके कलश बनाये जाते थे। सोने की सुइयाँ भी मिली हैं। संभवतः इनसे कढ़ाई आदि की जाती थी। कृषि संबंधी बहुत थोड़े औजारों के अवशेष रह पाए हैं जैसे हल के फल, चकमक आदि।

कृषि प्रधान उद्योगों में रही होगी क्योंकि बहुत से बड़े–बड़े नगरों में खाद्य पदार्थ पहुँचाया जाता रहा होगा। रूई, गेहूं, जौ, मकाई और खजूर की खेती की जाती थी। नावें भी बनती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि सिंचाई के लिए देश को बाढ़, पर निर्भर रहना पड़ता था। भोजन संबंधी बर्त्तन तथा औजार

आदि बनाने में ताँबा, काँसा और निकल का इस्तेमाल होता था । टीन का भी प्रयोग होता था परन्तु लोहा नहीं मिला है ।

औजारों और हथियारों में कुल्हाड़ी , बर्छा, तलवार, छूरा, तीर, मछली मारने की बंसी आदि उल्लेखनीय हैं । बर्त्तनों में थाली, तश्तरी, चम्मच आदि तथा तराजू, बाँट, दीवट आदि मिले हैं ।

अभी तक जो अवशेष प्राप्त हुए हैं उनके अनुसार सिन्ध घाटी की सभ्यता उपर्युक्त प्रकार की थी । इस अध्ययन से कई दिलचस्प प्रश्न उपस्थित हो जाते है जिनका उत्तर इतिहासज्ञों को अभी देना है ।

उदाहरण के लिए, यह सभ्यता कबसे, कहाँसे प्रारम्भ हुई इसका कुछ भी अभी तक निश्चय नहीं हो सका है । कहा जाता है कि इस सभ्यता का विकास उस वृहत्तर आंदोलन का एक भाग था जो ताम्र युग में इसी प्रकार की सभ्यता के विकास में दिखाई देता है । यह सभ्यता पश्चिमी फारस और मेसोपोटामिया और सेस्टन के हेलमांड तक फैली हुई थी । उक्त सभ्यताओं में सामान्य बातें कताई–बुनाई, रंगीन बर्त्तन और कुछ पच्चीकारी तथा चित्रवत् लेख लिखना आदि हैं । धर्म तथा संस्कृति व जीवन का उच्च स्तर उक्त सभ्यताओं में मुख्य भाग हैं। और यह भाग भारतीय हैं । उक्त सभ्यताओं के धर्म के स्वरूप भी हमारे धर्म से कई प्रकार से मिलते–जुलते हैं । राधा–कुमुद मुकर्जी का कथन है कि सिन्ध घाटी की सभ्यता का मेसोपोटामिया की सभ्यता से निकटतम संबंध नहीं था और न सिन्ध घाटी के निवासियों ने मेसोपोटामिया के लोगों की सभ्यता का अधिक नक़ल ही किया । श्री मुकर्जी ने अपने मत की पुष्टि के लिए "बेक" के इस मत का भी उल्लेख किया है कि "अब यह राय मजबूत होती जा रही है कि सिन्ध घाटी की सभ्यता विश्व की सबसे प्राचीन और प्रारंभिक सभ्यता है ।

इस सभ्यता के आर्य सभ्यता से संबंधित होने का भी एक प्रश्न है । बहुत से यूरोपीय विद्वान् इस सभ्यता को आर्य सभ्यता से बहुत भिन्न मानते हैं । वे इस सभ्यता का युग ऋगवैदिक काल से पूर्व बताते हैं और हमारे साहित्य में इसका कोई चिन्ह नहीं पाते हैं ।

प्रोफेसर राधाकुमुद मुकर्जी के मतानुसार ऋग्वेद में अनार्यों के विषय में जो उल्लेख किए गए हैं उनको सिन्ध घाटी से संबंधित माना जा सकता है । वे पन्द्रहवीं शताब्दी (ई० पू०) के "हिटाइट" राजधानी के लेखों का उद्धरण

देकर इस बात की पुष्टि करते हैं कि आर्य-सभ्यता का जन्म इससे पहले हुआ था और इसकी संस्कृति भारत से मेसोपोटामिया गई होगी। सिंध घाटी के लेखों में से जो "ब्राम्ही" लिपि निकाली गयी है उसकी तुलना में संस्कृत भाषा इससे बहुत पुरानी प्रतीत होती है और यह ऋग्वेद की सभ्यता के सिन्ध घाटी से पूर्व के होने का एक और प्रमाण है। ऋग्वेद में अनार्य संस्कृति की महत्व पूर्ण विशेषताओं का भी उल्लेख है जो सिन्ध घाटी की विशेषताओं का स्मरण कराती हैं और उनसे मिलती-जुलती हैं। इस प्रकार ऐसा बताया गया है कि अनार्य अद्‌भुत भाषा बोलते थे तथा वैदिक रीतियों व प्रथाओं, देवताओं, पूजा-पाठ व त्याग आदि को नहीं मानते थे अपितु वे अपनी प्रथाओं पर चलते थे। कहा जाता है कि वे मूर्ति (लिंग) पूजक थे।

डा० मुकर्जी के अनुसार भी उक्त वर्णन में कोई ऐसी बात नहीं है जो सिन्ध संस्कृति के विरुद्ध हो या उससे भिन्न हो। जहाँ तक अनार्य-सभ्यता के भौतिक रूप का सम्बन्ध है, ऋग्वेद में उनके ऐसे बड़े-बड़े नगरों तथा किलों के उल्लेख हैं जो पशुधन (गाय-भैंस) से परिपूर्ण थे। ऋग्वेद में पत्थर के उनके १०० स्तम्भ, बाढ़ से बचने के लिए किलों तथा एक अनार्य राज्य के १०० नगरों का भी उल्लेख किया गया है। इन्द्र को भी 'पुरन्दर' अर्थात् नगरों का लूटने वाला बताया गया है। ऋग्वेद में 'पाणिस्' नामक व्यापारी-वर्ग का भी उल्लेख है। इन नगरों में जो खोपड़ियाँ पायी गयी हैं उनमें ऋगवेद में उल्लिखित अनार्यों की कुछ जातिगत विशेषताएं भी देखी गयी हैं। सिन्ध घाटी के लोग घोड़ों को नहीं पालते थे परन्तु उनके पशुओं में से बहुतों से ऋग्वेद की जनता (आर्यों) भलीभांति परिचित थीं। इसी प्रकार इन स्थानों में प्राप्त आभूषण, रत्नादि एवं धातुओं से आर्य लोग परिचित थे। ऋग्वेद में कुछ ऐसे शस्त्रों का उल्लेख है जिन्हें सिन्ध घाटी के निवासी नहीं जानते थे। वैदिक काल के लोग रूई से भलीभांति परिचित थे।

इस प्रकार ऋग्वेद काल के लोग अनार्य-जगत्, उनके रहन-सहन तथा उनकी संस्कृति से भली भांति परिचित थे। इसलिए कुछ इतिहासविदों का मत है कि ऋग्वैदिक सभ्यता, यदि सिन्ध घाटी की सभ्यता के पहले की नहीं थी, तो उसके समकालीन थी। सिन्ध घाटी के निवासियों की जाति तथा जन्म एवं उनके ऋग्वैदिक सभ्यता से संबंध को निश्चित करने के लिए अब भी अन्वेषण करना आवश्यक है। अभी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि आर्य-सभ्यता भारत की अन्य सभी सभ्यताओं की एक मात्र आधार-शिला है। अनार्यों तथा आर्यों में कई मुख्य अन्तर हैं जैसे सिन्ध-घाटी की सभ्यता

के युग में लोहा और घोड़े नहीं थे; वैदिक काल के लोग अधिक ग्रामीण थे परन्तु सिन्ध घाटी के निवासी शहरी और व्यापारी थे। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जा सकता है कि धार्मिक क्षेत्र में आर्यों ने सिन्ध घाटी के निवासियों की अपेक्षा अधिक विकास किया।

---

# चतुर्थ अध्याय

## वैदिक संस्कृति

आर्यों के समकालीन कोई भी स्मारक या ऐतिहासिक अवशेष नहीं बचे हैं जिनसे यह सिद्ध हो सके कि भारत के आर्यों का हमसे स्पर्श (सम्पर्क) था। इसके बावजूद भी हमको इतना वृहत् एवं विस्तृत पुरातत्व–साहित्य मिला है जिससे उस युग के आदर्शों एवं विचार धाराओं पर विश्वास किया जा सकता है और हमारे ऊपर उन आदर्शों की छाप बनी हुई है। यह वृहत् साहित्य भारत में आर्यों द्वारा छोड़ी गयी साँस्कृतिक संपत्ति है। यह साहित्य हमें आर्यों के विभिन्न आदर्शों, आचार–व्यवहार तथा रस्म–रिवाजों का ज्ञान कराता है और यह बताता है कि हमारी संस्कृति कितनी निरन्तर और गहरी है तथा उस काल से लेकर आज तक हमारे आदर्श आर्यों की सांस्कृतिक देन पर अनवरत रूप में आधारित रहते आये हैं।

यूरोपीय विद्वान् यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते आ रहे हैं कि आर्य लोग भारत में बाहर से आये और उन्होंने आर्यों की आदि भूमि के संबंध में कई अनुमान लगाये हैं। यूरोपीय विद्वानों ने अनुमान से स्कैन्डिनेविया, आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया, रूस, तुर्की, मध्य एशिया, आरमीनिया आदि कई स्थानों को आर्यों की आदि भूमि बताया है। परन्तु इन स्थानों में से किसी को भी वास्तव में अभी तक आर्यों की मातृभूमि नहीं कहा जा सकता। हम आज भी इस विषय में कल्पना–प्रदेश में विचर रहे और संभवतः इसी स्थिति में बने रहेंगे। भारत में आर्यों की सभ्यता के काल–निर्णय के विषय में हमको एशिया माइनर में एक ऐसा स्मारक मिला है जो वैदिक संस्कृति की प्राचीनता की पुष्टि करता है। तुर्की की वर्त्तमान राजधानी अंकारा के निकट एक पुरातत्व संबंधी संकेत–स्तम्भ मिला है। बोगजकुवी नामक छोटा-सा गाँव किसी जमाने में शक्तिशाली "हिटाइट" राज्य, जो २० वीं शताब्दी (ई. पू.) में प्रसिद्ध हुआ था, की राजधानी था। यहाँ दो 'हिटाइट' लेख (मुद्रा) प्राप्त हुए हैं जिनमें हिटाइटों द्वारा उनके दक्षिणी पड़ोसी मिटानियों पर किये गये विजय का इतिहास दिया गया है और यह लिखा हुआ है कि उक्त दोनों राष्ट्रों में शान्ति संधि की मजबूती रखने के लिए शाही विवाह भी हुआ था। इस

संधि के साक्षी के रूप में आर्यों के पाँच देवताओं का भी उल्लेख है। ये देवता इन्द्र, वरुण, मित्र और अश्विन कुमार हैं। आश्विन कुमारों को नत्स्य नाम दिया गया है। चूंकि यह विजय की घटना लगभग १४०० वर्ष (ई. पू.) में हुई थी, इसलिए यह स्पष्ट है कि उस समय एशिया माइनर में आर्यों के देवतागण पूजे जाते थे। इस बात का अर्थ न तो यह हो सकता है कि आर्य लोग उस समय किसी उत्तैरी प्रदेश से भारत की ओर चल चुके थे और न यही कि आर्य संस्कृति का प्रसार भारत से एशिया माइनर तक हो चुका था। परन्तु यह स्पष्ट है कि आर्य सभ्यता हमें प्राचीनतम युग में ले जाती है।

यह प्राचीनतम युग अध्यात्म–जगत् में बहुत उज्ज्वल और रचनात्मक था। वस्तुतः उस युग में या उसके बाद भारत में जो स्थितियाँ रहीं उन सब में उस सत्य की प्रेरणा ही का प्रभाव रहा। इसको भारत के प्राचीन ऋषियों ने दिया है। इन ऋषियों की विद्वता तथा ज्ञान का प्रतीक आर्यों का मुख्य ग्रन्थ "वेद" है। (आर्य शब्द का अर्थ पहले तो एक "सम्प्रदाय" विशेष था परन्तु बाद में अनार्यों की तुलना में इसका अर्थ "महानता" हो गया)

## वेदों के स्वरूप

'वेद' क्या है ? इसकी कोई सही परिभाषा तार्किक रूप में नहीं दी जा सकती। प्रथम, वेद का अर्थ ज्ञान होता है और यह संस्कृति के "विद्" (जानना) धातु से बना है। द्वितीय, वेद का अर्थ ज्ञान संबंधी उन ग्रन्थों से लगाया जाता है जो सबसे पवित्र माने जाते हैं, जिन पर तर्क नहीं किया जा सकता और जो सामाजिक प्रथा, धर्म, दर्शन आदि सब विषयों से सम्बन्धित विवादों में अन्तिम निर्णय माने जाते हैं। कुछ 'वेद' को उन रहस्यों का संग्रह मानते हैं जो "ईश्वर" के द्वारा हमारे ऋषियों को बताये गये थे।

सामान्यतः संस्कृत साहित्य को दो बड़े भागों में बाँटा जा सकता है। एक वैदिक और दूसरा वेदोत्तर साहित्य। वेदोत्तर साहित्य में मनुस्मृति, महाकाव्य, शास्त्रादि, दर्शन संबंधी ग्रन्थ, टिप्पणियाँ, हस्तलेख आदि आते हैं। वैदिक साहित्य के तीन भाग मन्त्र (संहिता), ब्राह्मण तथा सूत्र हैं।

'श्रुति' तथा 'स्मृति' में भी अन्तर बताया जाता है। "मन्त्रों" एवं "ब्राह्मणों" को 'श्रुति' कहा जाता है तथा सूत्र 'स्मृति' कहे जाते हैं। 'श्रुति' का अर्थ है है जो सुना हुआ हो। यह किसी मनुष्य के द्वारा नहीं लिखा गया। स्मृतियाँ "श्रुति" पर आधारित मनुष्य द्वारा लिखित परम्परागत रचनाएं हैं।

प्रथम या संहिता—काल से संबंधित चार वेदों की चार संहिताएं हैं। ऋग्-वेद, सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद। इनमें ऋग्वेद सबसे प्राचीन एवं मुख्य है। कहा जाता है कि प्रारम्भ में केवल तीन वेद थे। अथर्ववेद बाद में 'वेद' में जोड़ा गया।

ऋग्वेद कई ग्रन्थों से मिलकर बना है। कहा जाता है कि भिन्न-भिन्न मन्त्रों को व्यवस्थित रूप में संग्रहित करने के काफी समय पूर्व उनकी रचना की गयी थी। ऋग्वेद को दो वर्ग में बाँटा जाता है। (१) अष्टक, अध्याय तथा वर्ग। (२) मण्डल, अनुवाक् तथा सूक्त। ऋग्वेद आठ अष्टकों में विभाजित है। प्रत्येक अष्टक आठ अध्याय तथा प्रत्येक अध्याय कई वर्गों में विभाजित है। ५ ऋचाओं का एक वर्ग होता है। कभी-कभी वर्ग में पाँच से कम या अधिक ऋचाएं भी हो जाती हैं। या ऋग्वेद को १० मण्डलों में विभाजित किया जाता है। प्रत्येक मण्डल में पाँच या पाँच से अधिक अनुवाक् होते हैं, और हर अनुवाक् में कई 'सूक्त' होते हैं और हर सूक्त में कई ऋचाएं होती हैं। हर सूक्त का एक ऋषि, एक देवता और एक पद होता है। हर मण्डल एक ऋषि अथवा एक ऋषि—परिवार से संबंधित है। इसी प्रकार तृतीय मण्डल का संबंध 'विश्वामित्र' से है।

सामवेद के कई छन्द ऋग्वेद से लिए गए हैं। सामवेद में दो भाग हैं। प्रथम भाग में ६ पाठ हैं जिनमें से अन्तिम को छोड़कर सभी दस दस छन्दों की दस छन्दावलियाँ हैं। द्वितीय भाग भी कई भागों में विभाजित हैं। मन्त्रों को संगीत के रूप में रखा गया है और उन्हें "गान" कहा गया है।

यजुर्वेद केवल यज्ञ संबंधी संस्कारों से संबंधित है। इसके 'शुक्ल' (श्वेत या पवित्र) तथा "कृष्ण" (काला या गुप्त) नामक दो भाग हैं। 'शुक्ल' में ब्राह्मणों का मिश्रण नहीं है परन्तु "कृष्ण" यजुर्वेद मिश्रित है।

'शुक्ल' भाग ४० अध्यायों, जो छोटे—छोटे भागों में बंटे हैं, में विभाजित है तथा "कृष्ण" भाग सात अष्टकों या कांडों में विभाजित है। प्रत्येक अष्टक या कांड ५ से लेकर आठ व्याख्यानों तक का है। एक—एक व्याख्यान कई अनु-वाकों में बंटा हुआ है।

अथर्ववेद २० कांडों में विभाजित है। हर कांड कई अनुवाकों तथा हर अनुवाक कई सूत्रों में विभाजित है। अथर्ववेद हम लोगों को उस युग के

निवासियों के रस्म–रिवाज व आचार–व्यवहार का सूक्ष्म दर्शन कराता है और उसमें जादू–टोना के सिद्धान्त आदि हैं ।

## वैदिक साहित्य

वेदों से 'ब्राह्मणों' का संबंध है । 'ब्राह्मण' पूजा–पाठ की विधियों से संबंधित हैं । इनमें यज्ञादि समारोहों के समस्त छोटे-छोटे विवरणों पर ध्यान पूर्वक विचार किया गया है और समस्त शब्दों के असली अर्थ दिए गए हैं। इसलिए 'ब्राह्मण' वैदिक मन्त्रों की 'व्याख्याएं' हैं। ये गद्य में लिख गये हैं जबकि वेद काव्य में हैं। इनको 'ब्राह्मण' नाम इसलिए दिया गया कि ये पंडितों के लिए और पंडितों के द्वारा लिखे गये हैं और इनका संबंध 'ब्राह्मण' से है। कई 'ब्राह्मणों' के उपसंहार के रूप में "अरण्यक" और "उपनिषद्" हैं। अरण्यक और उपनिषद् वैदिक साहित्य की भिन्न–भिन्न श्रेणियाँ हैं। 'अरण्यक' नाम शायद इसलिए रखा गया कि वे जंगल में पढ़ने योग्य थे जबकि अन्य 'ब्राह्मण' गाँवों में पढ़े जाते थे। 'अरण्यकों' में 'ब्राह्मणों' में लिखित कर्मकाँडों की व्याख्या है और उन पर रूपक मय विचार प्रकट किये गए हैं ।

उपनिषद् दर्शन संबंधी ग्रंथ हैं। इनको वेदान्त भी कहा जाता है क्योंकि ये वैदिक सिद्धान्तों के अन्तिम भाग हैं या इनमें वेदों का अन्तिम या उच्चतम लक्ष्य दिया गया है क्योंकि इनमें मुक्ति तथा सर्वोच्च सुख के प्रश्नों पर विचार किया गया है। "उपनिषद्" शब्द का अर्थ पहले "गुप्त बैठक" था किन्तु बाद में "गुप्त शिक्षा व गुप्त सिद्धान्त" हो गया। वृहदारण्यक, ऐत्रय, छन्दोग्य, तैत्रीय, ईष, केन, कथा, प्रश्न, मुन्डक, तथा मांडूक्य नामक दस मुख्य उपनिषद् हैं।

यह विश्व क्या है ? मैं कौन हूँ ? मृत्यु के बाद मेरा क्या होता है ? इन उपनिषदों में ऐसे-ऐसे प्रश्न पूछे गए हैं और उनके उत्तर दिए गए हैं।

वैदिक तथा वेदोत्तर साहित्य के बीच सम्पर्क स्थापित करने वाली ग्रंथि 'सूत्र' हैं। इन 'सूत्रों' की शैली बहुत विचित्र है और विश्व के सभी साहित्यों के इतिहास में इनका स्थान अद्वितीय है। 'सूत्र' का अर्थ है वह वाक्य जो अत्यंत गूढ़ और यथा संभव संक्षिप्त हों। सूत्रों की इसलिये रचना की गई कि जिससे वृहत वैदिक साहित्य को कण्ठस्थ करने में सुविधा हो। उच्चारण, छन्द, व्याकरण, ज्योतिष, शब्द–विद्या और यज्ञादि संबंधी संस्कार में छः वेदांग मुख्य सूत्र हैं। इस प्रकार सूत्रों में उच्चारण, छन्द, व्याकरण, शब्द–विद्या तथा

वेदों के कर्मकाण्डों की व्याख्या की गयी है। गृह्य तथा सम्यचारिक् सूत्र भी हैं। गृह्य सूत्र का संबंध विवाहित गृहस्थों के कर्मकाण्डों से है तथा सम्यचारिक् सूत्र में नियम हैं जिन पर महापुरुष लोग चलते हैं और जिन पर चल कर वे जीवन की गति को नियमित करते हैं।

---

अस्तु, वैदिक साहित्य को अब निम्नाँकित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:—

| वेद | सम्प्रदाय | संहिता | ब्राह्मण | आरण्यक | उपनिषद् | कल्पसूत्र |
|---|---|---|---|---|---|---|
| ऋग्वेद | ऐतरेथिन<br>कौशितेकिन | ऋक्संहिता | ऐतरेय<br>कौशितेकि | ऐतरेय<br>कौशितेकि | ऐतरेय<br>कौशितेकि | अस्वलायण<br>साँख्यायन |
| यजुर्वेद (शुक्ल तथा कृष्ण) | कथक<br>तत्तिरीय<br>मैत्रेयण्य<br>कपिष्टल कथा<br>मध्यमधिन<br>कण्व | कथक<br>तैत्तिरीय<br>मैत्रेयाणि<br>कपिष्टला<br>माध. वजस नेयी.<br>काण्वीयवाज | कथक<br>तैत्तिरीय<br>सत्पथ | तैत्तिरीय<br>मध्यान्धिनेयी<br>वाजसनेयी<br>कण्वीय | तैत्तिरीय<br>महानारायण<br>श्वेताश्वतार<br>मैत्रायण<br>वृहदारण्यक<br>ईष | कथक–गृह्य<br>बाँधापन<br>अपष्टम्ब<br>हिरण्यकेशी<br>भारद्वाज<br>मानव<br>कात्यायन |
| सामवेद | तान्दिन<br>तल्वकारा | कन्थुम-रणायानीय.<br>जैमिनीय | तान्द्य<br>शद्विश<br>जैमिनीय<br>तल्वकारा | | छंदोग्य<br>केन | लात्यायन<br>गोभिला<br>खादिरा<br>समविधान<br>ब्राह्मण<br>जैमिनीय |
| अथर्ववेद | अथर्वन | | | | मुण्डक<br>प्रश्न<br>माण्डूक्य | कौसिक<br>वैतन–<br>श्रौत |

## वेदों में क्या है ?

आधुनिक काल के भारतीय छात्रों के लिए कई कारणों से वेदों का अध्ययन अति आवश्यक है। प्रथमत: यह प्रारंभिक आर्यों का इतिहास जानने का एकमात्र साधन है। वेदों में हम अपने पूर्वजों के सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं, हम यह देखने लगते हैं कि उनका रहन-सहन कैसा था, वे किस भाषा में और कैसे बोलते थे तथा उनके विचार एवं आदर्श कैसे थे। दूसरा कारण यह है कि वैदिक काल या आधुनिक २० वीं शताब्दी भारतीय मस्तिष्क कई दृष्टियों से एक ही समान है। यदि यह पूछा जाता है कि वह कौन-सा एकरूपी सिद्धान्त है जो भारतीय जीवन व मस्तिष्क के सभी स्वरूपों में चलता आ रहा है तो हम यही उत्तर देंगे कि वह वेद और वैदिक काल का प्रभाव है जो भारतीयों के तह में प्रविष्ट है और जिसे हमारे छोटे से छोटे कार्यों में देखा जा सकता है। धर्म, दर्शन, नीति, साहित्य या सामाजिक आचार-व्यवहार सभी मे हर जगह हम वेद और वैदिक काल के प्रभाव को पाते हैं। हमारे धार्मिक उत्सव-समारोह आदि वेदों में उल्लिखित उत्सवों पर आधारित हैं। हमारे सभी ग्रन्थ अपने आधार तथा अधिकृत प्रमाण के लिए वेदों का उद्धरण देते हैं। तीसरा कारण यह है कि विश्व के इतिहास के विद्यार्थी के लिए वेदों का अध्ययन परम आवश्यक है। मैक्समुलर के शब्दों में "वेद विश्व के इतिहास में एक ऐसे रिक्त स्थान की पूर्ति करते हैं जिसकी पूर्ति किसी भी भाषा का कोई भी साहित्यिक ग्रन्थ नहीं करता। वेद हमें उस युग में ले जाते हैं जिसका इतिहास हमें कहीं भी नहीं मिलता। वेद हमको उन लोगों की सन्तति की उसी भाषा का ज्ञान कराते हैं जिसके सम्बन्ध में यदि वेद न होते, तो हम अस्पष्ट अनुमान ही लगा सकते थे।" चौथा कारण यह है कि वेदों में हमको भाषा तथा शब्दों का विज्ञान दिया है। "भारत की प्राचीन तथा पवित्र भाषा संस्कृत के जानने पर पश्चिमी विद्वानों को भाषाओं के अध्ययन को आगे बढ़ाने के आन्दोलन में जितना शक्तिपूर्ण योग मिला उतना कभी भी उन्हें नहीं मिला था। प्रारम्भिक वस्तुओं तथा स्वरूपों से सम्बन्धित इसकी महत्त्वपूर्ण बातों, इसके आगे बढ़ते हुए युग, तथा इसके बनावट की अद्वितीय स्वच्छता ने इसको हिन्द-यूरोपीय परिवार की भाषाओं में प्रथम स्थान पाने का ऐसा अधिकार दे दिया है जिस पर विवाद नहीं हो सकता। उक्त परिवार की समस्त भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन में, जो प्रारम्भ हो चुका है, संस्कृत भाषा ने एक नई रोशनी दी है और इसने उक्त भाषाओं के अस्पष्ट सम्बन्धों को प्रकट किया है। संस्कृत ने इन भाषाओं के सन्देहपूर्ण शब्द विज्ञान का शुद्धीकरण किया है

और इन सभी भाषाओं के अध्ययन सम्बन्धी अन्वेषण के नियमों के उदाहरण भी दिए हैं।" "दि साइन्स आफ लैंगुवेज" में सेस ने कहा है:— "देवनागरी वर्णमाला शब्दविज्ञान की शुद्धता का दीप्तिमान स्मारक है।" इन समस्त कारणों से हमारी संस्कृति के आधार को जानने के लिए वेदों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

वेदों में हम युवक, साहसी तथा हर्षोत्फुल्ल ऐसी जाति का दर्शन करते हैं जो अत्यधिक शक्तिशाली एवं शानदार थी। इस जाति के लोग संसार को दुःखमय मानने वाले नहीं थे। वे स्वयं उज्ज्वल थे। तथा उनका युग उज्ज्वल था। उनको भ्रष्ट युग की पीड़ा का आभास तक नहीं था। वे लोग माता–पिता के समान देवताओं का अभिनन्दन करते थे और उनसे स्पष्ट प्रार्थनाएँ करते थे:—

"ओ! देवताओं, हमें ऐसे वरदान दो कि हमारे कान शुभ शब्दों को सुनें, हमारी आँखें शुभ दृश्यों को देखें, हमारे अंग–प्रत्यंग दृढ़ रहें, हम आपकी प्रशंसा के गीत गाते रहें तथा हम दीर्घायु हों।" वेदों में जिज्ञासा की भावना भी मिलती है। ऋग्वेद की निम्नलिखित पंक्तियाँ मननीय हैं:—

"जिसकी छाया अमरत्व एवं मृत्यु दोनों हैं और जो अज्ञात देवता है, वह सर्वोच्च शक्ति कौन है? हमें उसकी पूजा करनी चाहिए।"

इस प्रकार वेद पर्याप्त आगे बढ़ी हुयी सभ्यता एवं संस्कृति को हमारे समक्ष प्रकट करते हैं। इनका अध्ययन, हम सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था, शिक्षा, धर्म एवं दर्शन के उपशीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं।

## सामाजिक तथा आर्थिक दशा

ऋग्वेद के युग में समाज सुसंगठित था। जीवन की इकाई का आधार एक परिवार था जिसका प्रधान (मुखिया) एक पुरुष होता था। अर्थात् सरदारी प्रथा का प्रचलन था। अविवेकपूर्ण तथा बेमेल विवाह नहीं होते थे। यौन संबंधी नैतिकता का स्तर बहुत ऊंचा था। बाल–विवाह का नाम भी कोई नहीं जानता था। दहेज प्रथा प्रचलित थी परन्तु कन्या तथा पत्नी को बहुत सम्मान प्राप्त था। घर में भी उनका सम्मानपूर्ण स्थान था। पत्नियाँ धार्मिक समारोहों में सम्मिलित होती थीं। पति की मृत्यु के बाद निःसन्तान होने की स्थिति में एक विधवा–विवाह का भी उल्लेख वेदों में है। सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार प्रचलित था। पिता की मृत्यु के बाद लड़का ही उत्तराधिकारी होता

था। परन्तु यदि उसकी एकमात्र सन्तान लड़की ही रही हो तो उसे भी उत्तराधिकार मिलता था।

आर्थिक जीवन पशुधन पर केन्द्रित था। हल चलाने और गाड़ियाँ चलाने में बैल और साँड़ का प्रयोग किया जाता था। घोड़े रथ चलाते थे और घुड़दौड़ में भी इनका प्रयोग होता था। भेड़, बकरे, गधे, कुत्ते आदि अन्य पालतू जानवर भी थे। एक चरवाहा के अधीन पशु चारागाह में चरते थे। चरवाहे को गोपाल कहा जाता था। अस्तु इस युग में कृषि को बड़ा महत्व दिया गया था। सिंचाई का काम कुओं से लिया जाता था। इन कुओं में से पानी खींचने में चमड़े की रस्सी से बंधी बाल्टी काम में लाई जाती थी। इसके बाद चौड़े नालों में पानी डाला जाता था और इस प्रकार सिंचाई होती थी। पशुओं, घोड़ों, वीर–योद्धाओं तथा 'सुपुत्रों' को धन माना जाता था।

जीविका तथा खेल–कूद दोनों के लिए शिकार खेलना प्रचलित था। दस्तकारी में बढ़ईगिरी का प्रमुख स्थान था। बढ़ई लोग युद्ध तथा कृषि के औजार और खेल–कूद के सामान बनाते थे। धातु के काम करने वाले कारीगर भी थे जो बर्त्तन, सुन्दर गहने तथा चमड़े की अच्छी अच्छी चीजें बनाते थे। कपड़े बुनने वाले कारीगर (जुलाहे) भी थे।

व्यापार तथा रुपये के संबंध में, वेदों में वणिक के रूप में व्यापारी पाये जाते हैं। विनिमय की प्रथा प्रचलित थी। ठेके की प्रथा तथा सौदों के विषय में वार्ता होने का भी प्रचलन था। ऋण देना और लेना भी प्रचलित था। वेदों में समुद्री व्यापार के भी उल्लेख हैं। इस युग में पोशाक के रूप में एक निम्न वस्त्र (नीवी), एक वस्त्र तथा एक अधोवस्त्र (अधिवास) प्रचलित थे। ये वस्त्र आमतौर पर भेड़ के ऊन के बने हुए होते थे। कढ़े हुए वस्त्र भी पहने जाते थे। गुलूबन्द (नेकलेस), कर्णफूल (ईयरिंग), ब्रेसलेट, जवाहिरात तथा हार, आदि आभूषण पहने जाते थे। बालों को कंघों से संवारा जाता था। बालों में तेल लगाने और पत्ते काढ़ने का भी रिवाज़ था। विशेषतः स्त्रियाँ ऐसा करती थीं। दाढ़ी रखी जाती थी और बनाई भी जाती थी।

खाद्य पदार्थों में दूध और दूध के बने हुए पदार्थ प्रमुख थे। वेदों में दूध में पकाए हुए अन्न तथा एक प्रकार की पनीर का उल्लेख है। चावल या

जौ की रोटी घी लगाकर खाई जाती थी। यज्ञ में माँस का भी प्रयोग होता था और भेड़-बकरे आदि पशु मारे जाते थे। गाय नहीं मारी जाती थी और मदिरा नहीं पी जाती थी। यह स्पष्ट नहीं है कि 'सोमरस' किसको कहा जाता था।

खेल-कूद तथा मनोरंजन में रथों की दौड़, घुड़दौड़, पासे का खेल, नृत्य तथा संगीत प्रमुख थे। स्त्री-पुरुष दोनों ही नृत्य करते थे। दुन्दुभी, करकरी खंजरी, डफ, वाण, नादि आदि वाद्ययन्त्रों का संगीत में प्रयोग होता था। राजा तथा राज्य की व्यवस्था थी परन्तु सभा एवं समिति नामक जनसभाएं भी थीं। वेदों में न्याय की व्यवस्था, रक्षा एवं विजय के निमित्त युद्धों का भी उल्लेख है।

## विद्या एवं शिक्षा

वैदिक सभ्यता "सादा रहन-सहन तथा उच्च विचार" के सिद्धान्त पर आधारित थी। जीवन सादा था परन्तु विचार इतने ऊंचे स्तर पर थे जहाँ-तक अब तक मनुष्य की कल्पना नहीं पहुंच पायी है।

विद्यार्थी अध्यापक (गुरु) के घर पर पढ़ते थे जहाँ उनको विशेषतः पवित्र ग्रन्थ पढ़ाये जाते थे और इसके लिए अध्यापक उत्तरदायी माने जाते थे। पहले तो विद्यार्थियों को ग्रन्थों को कन्ठाग्र कराया जाता था और उच्चारण सिखाया जाता था। इनको वर्णन की शिक्षा भी दी जाती थी। विद्याध्यन के लिए आने वाले बालकों को इन बातों पर विशेष ध्यान देना पड़ता था। शिक्षा में तपस्या एवं योग पर, आत्मानुभूति के निमित्त, अधिक जोर दिया जाता था। इस प्रकार मुनि (देव-ज्ञानी), विप्र (दैवी गायक) तथा मनीषी (विस्तृत ज्ञानयुक्त) उत्पन्न किये जाते थे। समाधि लगाने तथा अन्तर्ज्ञान से लोग प्रबुद्ध हो जाते थे और उनमें अपार ज्ञान आ जाता था।

## दर्शन तथा धर्म

धर्म के क्षेत्र में, हम वेदों में एक परमेश्वर तथा उसके भिन्न-भिन्न स्वरूपों के रूप में विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा प्रचलित पाते हैं। वेदों में आकाश, पृथ्वी, वरुण, इन्द्र ( वर्षा के देवता ), सूर्य, सावित्री, मित्र, पुशान और विष्णु इन पाँच रूपों में पूजे जाने वाले सूर्य, सूर्य की तीव्र

बढ़ती हुई शक्ति की प्रतिनिधि सावित्री, वरुण सहित मित्र, बनस्पति पर सूर्य की शक्ति के प्रभावों के प्रतीक पुशान, तीव्र गति से चलते हुए सूर्य के प्रतिनिधि विष्णु आदि देवी–देवता पाये जाते हैं। अन्य देवताओं में रुद्र, दो अस्विन, मरुत्, वायु, वात, उषा, अग्नि, सोम तथा पर्जन्य हैं। आँधी –तूफान के देवता को रुद्र, रुद्र के सहचरों को मरुत्, प्रातः एवं सायंकालीन नक्षत्रों को दो अस्विन्, हवा को वायु, वायु के देवता को वात, प्रभात की देवी को उषा, आग के देवता को अग्नि, अमरतो की पुत्री को सोमा तथा नदियों, पानी एवं वर्षा के देवता को पर्जन्य कहा जाता था।

यूरोपीय विद्वान् इन देवताओं को आर्यों द्वारा पूजे जानेवाले प्रकृति के विभिन्न रूप मानते हैं। इन देवताओं को भिन्न–भिन्न शक्तियों का प्रतीक तथा "ईश्वर" के विभिन्न स्वरूप मानना अधिक उचित होगा।

ऋग्वैदिक काल का धर्म मुख्यतः उन देवताओं की पूजा करने में निहित था जिनके वरदान निश्चित यज्ञों के सम्पन्न करने से प्राप्त होते हैं, ऐसा कहा जाता था। अनेकानेक उत्सव, समारोह, कर्मकाण्ड आदि बन गए थे, अतः पुरोहितों का एक वर्ग बन जाना स्वाभाविक था। ऋग्वेद की तान्त्रिक प्रणाली का आधार शक्ति था और उसकी भी पूजा होती थी।

दर्शन में आर्य लोग ऐसे स्तर पर पहुँच चुके थे जिसको अभी भी पार करना है। अपने अन्तर्ज्ञान, कल्पनाशक्ति, विलक्षण दृष्टि तथा विचारों में उन्होंने सर्वोच्च वास्तविकता को पा लिया था और उनकी दृष्टि में ऐसी व्यापकता, ऐसी सहिष्णुता की भावना तथा ऐसी निर्भयता थी जिसके विषय में उनसे पहले किसीने कल्पना तक नहीं की थी। उनमें, असीमित साहस और उत्साह था। वेदों में दृश्य जगत को उसके सुन्दरतर उस स्वरूप को खोल कर प्रकट किया गया है जिसको पुनः इस जगत् को प्राप्त करना है। इस प्रकार वेद हमें यह बताते हैं कि विश्व एक स्थिति से निकलता है और पुनः उसी स्थिति को प्राप्त करता है। विश्व की गति निरन्तर इसी क्रम से चलती रहती है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में आत्मा की गम्भीर खोज की गयी है, तथा इस जगत के स्वरूप और आदि, जीवन–मृत्यु के रहस्य, ईश्वर से मानव के सम्बन्ध आदि गम्भीर प्रश्नों के उत्तर दिए गए हैं।

एक स्तुति में 'विश्वव्यापी' को 'पुरुष' का नाम दिया गया है। इसी से उस विचारधारा का पता लगता है जिसके अनुसार हिन्दू कला में अनेक भुजाओं

एवं चक्षुओं वाले देवतागण प्रदर्शित किये गये हैं। हमें निम्नलिखित प्रकार के वाक्य पढ़ने को मिलते हैं :—

"न वहाँ मृत्यु थी और न मृत्यु रहितता। न रात्रि और दिन में भेद का ज्ञान था। जीवन की गति के पहले केवल वही "एक" था जो ज्योति का स्रोत है। वह अपनी शक्ति सहित था। उसके अतिरिक्त और कुछ भी दूसरी वस्तु नहीं थी।" २

## वेदों की व्याख्या

वेदों के विभिन्न मन्त्रों की भिन्न-भिन्न व्याख्या की गयी है। 'यक्ष' और 'सायण' द्वारा अक्षरशः और शब्दशः की गयी एक व्याख्या प्रमुख है। इन्होंने भाषा एवं व्याकरण का अध्ययन किया था और वेदान्त सम्बन्धी दृष्टिकोण पर जोर दिया था। वेदों में मुख्यतः यज्ञ तथा देवताओं से सम्बन्धित धार्मिक समारोहों के विवरण युक्त कर्मकांडों पर विचार किया गया है। इनसे सुराग लेकर अनेक यूरोपीय विद्वानों ने वेदों की व्याख्या की है। इनमें विशेषतः जर्मन विद्वानों की संख्या अधिक है। इन विद्वानों में रोजेन, राथ, वेबर, मैक्समुलर, लुडविग ग्रासमैन, पिशेल तथा ग्रेल्ड्नर, ओल्डनवर्ग (जर्मन) तथा विल्किन्स, कोलब्रुक एवं म्योर (अंग्रेज) उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः यह कहना गलत न होगा कि यूरोपियनों ने ही आधुनिक भारतीयों के सामने "वेदों" को प्रकट किया। यूरोपीय विद्वानों ने मुख्यतः शब्द प्रति शब्द व्याख्या की है। उन्होंने वैदिक धर्म को प्रकृति-पूजा बताया है। उन्होंने जाति-व्यवस्था का मूल ढूढ़ निकाला है। इन्होंने यवन, रोमन तथा ईरानियों से भारतीयों के वैवाहिक सम्बन्धों की खोज की और ब्राह्मणों, क्षत्रियों के पारस्परिक सम्बन्धों को चित्रित किया। और इन्होंनें ही वेदों के अध्ययन के द्वारा भारतीय पौराणिक कथाओं, भारतीय समाज तथा भारतीय रहन-सहन का चित्र हमारे समक्ष प्रस्तुत किया। उक्त शब्द-प्रति-शब्द व्याख्या नें ही हमें "कर्मकाण्ड" का वह सिद्धान्त दिया जिस पर 'मीमाँसकाओं' नें जोर दिया है। इस सिद्धान्त के अनुसार "वेदों का मुख्य उद्देश्य कुछ "कर्मों" या पूजा-पाठ की विधियों का अर्थ बताना है। इसलिए उन समस्त भागों को, जो 'कर्मकांडों' पर स्पष्ट प्रकाश नहीं डालते, अतिशयोक्तिपूर्ण या नकली माना जाना चाहिए।"

इसके बाद ज्ञानकांड सम्प्रदाय की व्याख्या आती है जिसके अनुसार "वेदों में मुख्यतः इन्द्रियागम सर्वश्रेष्ठ उस सत्य का अध्ययन है जिसकी अनुभूति से ही वह अज्ञानता दूर होती है जिसके कारण मनुष्य दुःख और बन्धन में रहता है।"

इन दो व्याख्याओं को मिलाने और विशेषतः वेद के मन्त्रों में निहित गूढ़ महत्व का दर्शन करने के अनेक प्रयास किए गए हैं। इन मन्त्रों के अर्थ ऐसे गूढ़ हैं जिनका अन्वेषण केवल ऋषि तथा योगीगण ही कर सकते हैं। आर्य समाज के प्रवर्त्तक ऋषि दयानन्द ने इसी प्रकार के दृष्टिकोण पर जोर दिया था और श्री अरविन्द के लेखों में भी यही दृष्टिकोण प्रकट है। योगी अरविन्द ने "दि ह्यूमेन साइकिल" में लिखा है—"यदि हम भारतीय समाज तथा वैदिक युग, जिसे अब हम नहीं समझते क्योंकि हमारा वह मस्तिष्क लुप्त हो गया है, के प्रारम्भ की ओर देखें तो हम उस युग की हर वस्तु को प्रतीकवादी पायेंगे। यज्ञ की धार्मिक प्रथा से पूरा समाज तथा उसका हर क्षण एवं मुहूर्त्त प्रभावित था तथा यज्ञ के कर्मकांड का प्रत्येक विवरण रहस्यमय प्रतीकवादी है। यह सिद्धान्त ग़लत है कि लौकिक समृद्धि और स्वर्ग की प्राप्ति के लिए देवताओं के तुष्टीकरण के अतिरिक्त यज्ञ में कोई महत्व की बात नहीं थी। यह उस युग के बाद में आयी मानवती जो मस्तिष्क के बौद्धिक एवं व्यावहारिक वक्रता से अत्यधिक प्रभावित हो चुकी थी, की ना समझी है। उक्त मानवता ने तो अपने धर्म, रहस्य-वाद एवं प्रतीकवाद को भी ग़लत समझा और इसलिए वह प्राचीन भावना में अब नहीं प्रविष्ट हो सकती .........ऋग्वेद के उस मन्त्र को ले लीजिए जो विवाहिक मन्त्र माना जाता है। और इसलिए बाद के वैदिक युगों में भी इस मन्त्र का निश्चित रूप में प्रयोग होता था। फिर भी इस मन्त्र का पूरा अर्थ भिन्न-भिन्न देवताओं के साथ हुए सूर्य के क्रमिक विवाहों पर ही केन्द्रित है। मनुष्यों के विवाह को दैवी तथा रहस्यमय व्यक्तियों के आगे दबा दिया गया है। और उन्हीं दैवी व्यक्तिवों के विषय में सब कुछ कहा गया है........अथवा वैदिक काल की चतुर्वर्ण -व्यवस्था को ले लीजिए....यह वेद के पुरुष-सूक्त में दिखाई देती है। इस सूक्त में चारों वर्णों को सृष्टि रचयिता देवता (ब्रह्मा) के शरीर से, निकला हुआ बताया गया है। कहा गया है कि इस देवता के सिर, भुजा जाँघ और पैर से ये चारो वर्ण निकले हैं। हमलोगों के लिए यह कवियों की कल्पना मात्र है। इसका अर्थ हम यह लगाते हैं कि ब्राह्मण ज्ञान एवं बुद्धि तथा क्षत्रिय शक्ति युक्त मनुष्य थे, वैश्य उत्पादक एवं समाज के पालक थें और शूद्र समाज के सेवक थे। और ये सब कुछ...........हमारे लिए कविता बुद्धि एवं कल्पना का रंग-रस है ......मस्तिष्क की उपज थी किन्तु पुराने लोग कवि को ऋषि-मुनि तथा गुप्त सत्यों को प्रकट करने वाला मानतें थें.....इन ऋषियों की दृष्टि में मूर्ति 'अप्रकट' की प्रतीक थी.....उनकी दृष्टि में "सृष्टि-रचयिता" का यह प्रतीक मूर्ति से कहीं अधिक महत्वपूर्ण था और यह दैवी सत्य को प्रकट करता था। उनकी दृष्टि में मानव समाज उस सुन्दर पुरुष को जीवन

में प्रकट करने का प्रयास था जो भौतिक जगत् तथा भौतिकता से परे विश्व में व्याप्त है।" ३

## वेद हमारी संस्कृति एवं दर्शन के आधार हैं

"एनशिएन्ट इंडिया एंड इंडियन सिविलाइजेशन" के संयुक्त लेखक पी० एम० और्सल, एच० डब्ल्यू० ग्रावोस्का तथा पी० स्टर्न के अनुसार "अथर्ववेद के जादू तथा ऋग्वेद के छन्दों में भारत के आर्य-धर्म के जन्म का पूरा विवरण हमें मिलता है। ब्राह्मणत्व के बाद में जो कुछ दावे हुए हैं वे सब वैदिक परम्परा के ही उत्तराधिकार हैं। निश्चित रूप में वैदिक परम्परा का शोषण है।" ४ कल्चरल हेरिटेज आफ इंडिया में स्वामी सर्वानन्द लिखते हैं—"एक हिन्दू को परम्परा तथा विश्वास के द्वारा वैदिक युग के धुंधले प्रागैतिहासिक अतीत तक के अपने साँस्कृतिक जीवन के मौलिक स्रोत का पता लगाना सिखाया जाता है। वेद वे दैवी सत्य माने जाते हैं जिनको समय समय पर ऋषियों ने अपनी असाधारण चेतना में प्रकट किये हैं।" ५ वे आगे लिखते हैं कि भारतीय विचारों में—धर्म, दर्शन, कर्मकांड, नागरिक रहन-सहन, सामाजिक संबंध, इतिहास, कानून और कलाओं में—क्रमशः जितने भी विकास हुए हैं उन सब का पता वेदों से लगता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक एक हिन्दू के पूरे जीवन में जितने संस्कार (कर्मकांड) होते हैं उन सब को वैदिक मंत्रों के उच्चारण से पवित्र करना आवश्यक होता है।

वेदों का दर्शन समन्वयात्मक तथा सबको अपने में सम्मिलित कर लेने वाला था। श्री अरविन्द के शब्दों में "वही एक भारतीय अध्यात्मिकता का आधार-भूत दर्शन है जिसे ऋषियों ने वेदों में उल्लिखित विभिन्न नाम दिये तथा जो उपनिषदों में अद्वितीय है—भारत के धार्मिक मस्तिष्क की यह सर्वप्रथम विचार धारा है।"

दूसरी विचारधारा मनुष्य द्वारा उस अविनाशी एवं अनन्त तक पहुंचने के विभिन्न साधनों की है। सभी शक्तियाँ और प्रदर्शन उसी "एक" की हैं। वे सब प्रकृति के समस्त कार्यों के पीछे देखी जाती हैं। प्रकृति के सभी कामों में उन्हीं शक्तियों, व्यक्तित्वों तथा नामों की पूजा की जाती है जो उसी एक "ईश्वर" के विभिन्न स्वरूप हैं और भिन्न-भिन्न देवता के रूप में पूजे जाते हैं। वह सृष्टि की रचना करता है अतः 'ब्रह्मा' है, पालन व रक्षा करता है इसलिए विष्णु है तथा संहार करता है इसलिए शिव या रुद्र है।" "परन्तु एक सबसे मजबूत तर्क की तीसरी विचारधारा यह भी है कि उस दैवी शक्ति तक न केवल

सर्वव्यापी आत्मा के प्रतिरूपों तथा समस्त आन्तरिक एवं वाह्य प्रकृति के द्वारा ही पहुंचा जा सकता है , वरन् प्रत्येक प्राणी या पदार्थ अपने अध्यात्मिक रूप में अन्ततः वही 'एक' है और उसके साथ वही दैवी शक्ति है। प्रत्येक मनुष्य में मानवत्व ही दैवत्व (नारायण) है तथा समस्त दैहिक या सामूहिक तत्व उसी नारायण के एक रूप हैं। ईश्वर हम लोगों में हैं तथा हमको अपने अन्दर ही उसे प्राप्त करना है।" "उसी सर्वश्रेष्ठ अनन्त का एकत्रित रूप में या सभी तरीकों से दर्शन करना और उसके साथ एक हो जाना ही सनातन धर्म है, एषः धर्म सनातनः।"६ वेदों ने हमें वे जीवित शब्द दिये हैं जो आज भी हमारी संस्कृति के आधार हैं---सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्मः ब्रह्म सत्य है, ब्रह्म ज्ञान है, ब्रह्म अविनाशी है।

धर्म, दर्शन, राजनीति, भाषा, शिक्षा आदि जीवन के सभी विभागों में वेद स्थायी स्मारक स्थापित कर गये हैं। विशेषतः आर्यों की विरासत में निम्नांकित विशेषताएं हैं।

प्रथमतः, इस विरासत ने हमको अध्यात्मिकता के विचार से सम्बन्धित सिद्धांतों के भंडार दिये हैं। उनका अध्यात्मिकता संबंधी विचार धारा निश्चित एवं पूर्ण थी। उनके विचार विश्व सम्बन्धी ऐसे विचार नहीं थे जिनसे दार्शनिक लोग दूर रहना चाहते हैं। उन्होंने चेतन, अचेतन और जड़ सभी में "ईश्वर" को देखा था। उन्होंने भौतिक, जीवन संबंधी, मानसिक तथा शारीरिक पूर्णता पर जोर दिया था क्योंकि इनमें भी हमें सर्वश्रेष्ठ दैवत्व का अपने ही अन्दर दर्शन करना है। उन्होंने हमको अपनी आत्मा के अन्दर कार्य के आधार को प्राप्त करने तथा सर्वव्यापी "परमेश्वर" में अपने को मिला देने के लिए अपने वाह्य तथा अज्ञानपूर्ण व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाने और इस स्थित को पार कर जाने की प्रेरणा दी।

द्वितीयतः, इस अमूल्य अध्यात्मिकता ने उनमें सभी कलाओं में पूर्णता प्राप्त करने तथा विज्ञान एवं कलाओं की सभी शाखाओं को व्यवस्थित करने का आग्रह उत्पन्न किया ताकि आन्तरिक एवं वाह्य तत्वों में पूर्णरूपेण मेल कायम हो जाय। उनमें सन्तुलन, व्यवस्था और मेल का आग्रह होने के कारण ही उनकी साहित्यिक तथा कलात्मक रचनाओं ने हमें एक नया एवं समन्वयात्मक दृष्टिकोण तथा रचनात्मक कल्पना-शक्ति दी है जिसमें अतिशयोक्ति, उपहास्यता या इन्द्रियलोलुपता आदि कुछ भी नहीं है। तृतीयतः, उन्होंने हमको वर्णाश्रम धर्म दिया है जिसे अब जाति प्रथा कहा जाता है। इस प्रथा का आर्थिक आधार इतना स्पष्ट है कि उस पर प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु इसका अध्यात्मिक

आधार भी है जिसकी चर्चा हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। फिर, सामाजिक व्यवस्था किसी संकीर्ण सिद्धान्त पर आधारित नहीं थी। सभी जातियों को समाज में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। स्त्रियों को भी न केवल परिवार में अपितु सार्वजनिक क्षेत्र में पूर्ण सम्मान प्राप्त था और वे सार्वजनिक शास्त्रार्थों एवं धार्मिक समारोहों में खुल कर भाग लेती थीं।

चौथी विशेषता यह है कि जीवन के प्रारम्भ से ही अध्यात्मिक लक्ष्य पर अनवरत जोर दिया जाता था और लोगों में धार्मिक भावना, जो उस समय प्रभावपूर्ण थी, कूट-कूट कर भर दी जाती थी। इसलिए आश्रमों में शिक्षा दी जाती थी जहाँ प्रेम, कर्त्तव्य और आदेश की ऐसी शिक्षा दी जाती थी कि वहाँ से मनुष्य पूर्ण व्यक्तित्व बनकर निकलता था। गुरु लोग राजाओं का उनके जीवन तथा शासन दोनों से संबंधित समस्याओं में पथ-प्रदर्शन करते थे।

पाँचवी विशेषता यह है कि आर्य लोग हमारे लिए इतना आश्चर्यजनक साहित्य छोड़ गए हैं जिसको अभी तक पूर्णतः नहीं समझा जा सका है और जिसका स्पष्टीकरण आज तक होता चला जा रहा है। इसी अद्भुत साहित्य ने हमको ऐसी विचारधाराएं दी हैं जो हमारी संस्कृति के ताने-बाने हैं।

छठवीं विशेषता यह है कि आर्य लोग मनोवैज्ञानिक अन्वेषणों का इतना वृहत् भंडार छोड़ गये हैं कि जिसकी तुलना में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की आधुनिक व्यवस्थाओं का महत्व फीका पड़ जाता है। उन्होंने इस बात की खोज की कि वाह्य शारीरिक, प्राणिक और मानसिक खोलों के पीछे सूक्ष्म शारीरिक, प्राणिक न्यता तथा मानसिक खोलें हैं। इन सबके पीछे आत्मा है। और इस प्रदेश में उस "दैवत्व" तक पहुंचने के पूर्व आनन्द पुरुष तथा विज्ञान पुरुष जैसे धरातल हैं। वेद के मन्त्रों के पीछे भी बहुमूल्य मनोवैज्ञानिक विश्लेषण छिपा था।

इस प्रकार, आर्यों की संस्कृति अत्यधिक गतिशील और गम्भीर थी। आर्य लोग सभी रहस्यों की खोज के लिए निकल पड़े थे, ऐसा प्रतीत होता है। उनकी स्पष्ट दिव्यदृष्टि से कोई भी वस्तु नहीं बच सकी। उन्होंने भूत, जीवन, मस्तिष्क एवं विश्व के अंग-प्रत्यंगों का अलग-अलग करके विश्लेषण किया और उनका अध्ययन किया। केवल इतना ही नहीं प्रत्युत अनन्त की अपनी खोजों के द्वारा हमारे समक्ष ईश्वर तथा हमारे बीच क्या संबंध है इसका यथा स्थिति स्पष्ट चित्र प्रस्तुत कर दिया। हम अपन वैज्ञानिक ज्ञान के विषय में बहुत कर बातें करते हैं परन्तु आधुनिक साधनों के न होते हुए भी, वे स ी

क्षेत्रों में साहसपूर्ण खोज करनें के लिए गए। उन्होंनें हमें संस्कृत भाषा दी जो विश्व में सबसे अधिक वैज्ञानिक और पूर्ण भाषा मानी जाती है तथा जो अब शब्द विज्ञान का आधार बन गयी है। आज पुनः हमें अपनी समस्याओं को हल करनें के लिए उनकी स्पष्ट सूक्ष्म, दृष्टि की आवश्यकता है।

उक्त संस्कृति हमें यह बताती है कि हमारे विचारों तथा जीवन के आधारों के लिए हमारी भारतीय सभ्यता आर्यों की कितनी ऋणी है। इस प्रकार आर्यों द्वारा छोड़ी गयी सांस्कृतिक संपत्ति बहुरूपी और विभिन्न प्रकार की रही है। यह हमारे विचारों, स्वभावों और हमारे अन्तर में इस तरह प्रविष्ट हो गयी है कि इन्हें समझने के लिए हमें दर्शन के क्षेत्रों में, कल्पनाओं तथा अपनें जीवन के स्रोतों का पुर्नविश्लेषण करनें का प्रयत्न करना होगा।

१–"लेंगुवेज एंड इट्स स्टडी"––व्हिटनी––पृष्ठ ४

२–"दि विजन आफ इंडिया"––एस० के० मित्रा

३–"ह्यूमेन साइकिल"––श्री अरविन्द पृष्ठ ४–७

४–"एनशिएन्ट इंडिया एंड इंडियन सिविलाइजेशन"––पी० एम० आर्सेल तथा अन्य लोग ––पृष्ठ १२९–१३०

५–"कल्चरल हेरिटेंज आफ इंडिया ––वाल्यूम १–पृष्ठ १

६–"दि आर्य"––श्री अरविन्द––वाल्यूम–६–अध्याय ७–"भारतीय संस्कृति की एक पैरवी"

# पंचम अध्याय

# वेदोत्तर एवं महाकाव्य संस्कृति

"वेदोत्तर सभ्यता"—इस शब्द का अर्थ हम वह सभ्यता या संस्कृति लगाते हैं जो ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा सूत्र आदि वैदिक ग्रन्थों में प्रकट की गयी है। और महाकाव्य सभ्यता उस संस्कृति को कहते हैं, जो रामायण और महाभारत में दिखाई गयी है। ऋग्वेद-काल में सभ्यता का केन्द्र पंजाब के पाँच प्रसिद्ध नदियों की भूमि (पश्चिम) से हट कर सरस्वती तथा द्रशद्वती के बीच की भूमि, भरत-भूमि में, अर्थात् पूर्व में जा रहा था। महाकाव्य युग के अन्त तक यह सभ्यता संपूर्ण भारत देश में व्याप्त हो गई थी। आइए, पहले हम वेदोत्तर संस्कृति पर विचार कर लें।

## सामाजिक व्यवस्था एवं आर्थिक जीवन

इस युग में व्यवस्थित जीवन की प्रगति के साथ-साथ भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवसाय अधिकाधिक संख्या में उत्पन्न हो गए। इन व्यवसायों के भेद तथा आदिवासियों से संपर्क होने के कारण, जिसके फलस्वरूप रंग-भेद तथा रक्त की शुद्धता आदि प्रश्न पैदा हो गये, इस युग में जाति-प्रथा का पूर्ण विकास हुआ। अतः, यहाँ हमें जाति-प्रथा के जन्म तथा विकास का अध्ययन कर लेना चाहिए।

कहा जाता है कि जाति-प्रथा "चतुर्वर्ण" के वैदिक सिद्धान्त से निकली है। यह भी कहा जाता है कि चार वर्ण की यह व्यवस्था राजनीतिक कारणों से उलझे हुए आर्थिक उलट-पलट के फलस्वरूप क़ायम हुई थी। जाति-प्रथा के जन्म की यह व्याख्या कम-समझ की है और एक धोखा है। आर्य लोग हमेशा सामाजिक विचारों एवं सिद्धान्तों के अध्यात्मिक तथा मनोवैज्ञानिक स्वरूपों को देखते थे।

आर्यों की दृष्टि में ब्रह्मा का शरीर चार वर्णों की रचना का प्रतीक एक दैवी सत्य को प्रकट करता था। उनकी दृष्टि में मानव समाज जीवन में उस

सार्वभौम पुरुष को प्रकट करने का प्रयास मात्र था जिसने अपने को भौतिक तथा भौतिकता से परे के जगत में अन्य रूपों में प्रकट किया है।

इस प्रतीकवादी रुख से समाज में प्रत्येक वस्तु को शपथ, धार्मिक तथा पवित्र आदेश बना देने की भावना आयी। किन्तु इसके सभी स्वरूपों में व्यापकता एवं प्रचण्ड स्वतन्त्रता थी। इस प्रकार हम पहले चार वर्णों की प्रतीकवादी विचारधारा पाते हैं जो उस "दैवी शक्ति" को मनुष्य में ज्ञान तथा शक्ति, उत्पादन, मनोरंजन व मैत्रीत्व तथा सेवा, आज्ञाकारिता एवं कार्य के रूप में प्रकट करते हैं। ये विभाजन, ज्ञान, शक्ति, अनुकूलता ( मेल–मिलाप ) तथा 'कार्य' के उन चार सिद्धान्तों का उत्तर देते हैं जिनमें से प्रथम विश्व की हर वस्तु (प्राणी) के विचार में व्यवस्था एवं सिद्धान्त लाता है, द्वितीय आदेश देता, और उसे बलपूर्वक लागू करता है, तृतीय इसके समस्त भागों में व्यवस्था लाता है और चौथा अन्य सब के निर्देश को कार्यान्वित करता है। इसी विचारधारा से एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था निकली जो कठोर न होते हुए भी सुदृढ़ थी और जो प्रथमतः सदाचार संबंधी अनुशासन सहित प्रकृति व स्वभाव तथा आत्मिक 'गुण' पर आधारित थी और इसका दूसरा आधार सामाजिक एवं आर्थिक 'कर्म' था। किन्तु कर्म गुण के साथ अपनी उपयुक्तता एवं अनुशासन में सहायकता के द्वारा निश्चित किया जाता था। यह प्रारम्भिक तथा एकमात्र प्रतिनिधि नहीं था। इस प्रकार चार वर्णों के पीछे मुख्य विचारधारा अध्यात्मिक एवं धार्मिक है। और इसके सदाचार संबंधी, आर्थिक, भौतिक, तथा मनोवैज्ञानिक स्वरूप गौण हैं।

सूत्रों के युग में यह मुख्य विचारधारा आत्मिक तथा सदाचार विषयक विचारों से अत्यधिक अभिभूत हो जाती है। सदाचार–विद्या तथा अनुशासन के लिए धर्म अज्ञात एवं गुप्त आज्ञा बन जाता है। यह उसकी मुख्य सामाजिक उपयोगिता हो जाती है। मनुष्य में दैवी शक्ति या शुद्ध सिद्धान्त के प्रत्यक्ष प्रकटीकरण (प्रकाश) की विचारधारा का प्रभुत्व कम होने लगता है और अन्त में जीवन के सिद्धान्त तक में इसका अन्त हो जाता है। इसके पश्चात् सामाजिक सम्मान की विचारधारा आती है। ब्राह्मणों का सम्मान पवित्रता, दया और मस्तिष्क व आत्मा के प्रति उच्चतम भक्ति में होने लगता है। साहस, वीरता, शक्ति और चरित्र की महानता में क्षत्रिय का सम्मान निहित रहता है। वैश्य का सम्मान लेन-देन में खरापन, व्यवसायिक सच्चाई, अच्छा उत्पादन तथा मानव–प्रेम में निहित रहता है। इसी प्रकार शूद्र का सम्मान आज्ञाकारिता, आधीनता, विश्वासपूर्ण सेवा एवं निःस्वार्थ प्रेम में निहित रहता है।

के अनाज की उपज होने लगती है। नये-नये व्यवसाय (पेशों) प्रचलित हो गए तथा उद्योग के क्षेत्र में महत्वपूर्ण एवं आकर्षक विकास हुए। ग्रन्थों में मछली मारने, कपड़े धोने, कसाई के काम, जेवर-गहने बनाने तथा बाल काटने जैसे नए व्यवसायों (पेशों) का उल्लेख है।

शिल्प-विद्या में इस समय लोग कितने निपुण हो गये थे इसका संकेत १०,८०० पक्की ईंटों की बनी उस यज्ञ-वेदी में मिलता है जिसकी आकृति पंखों को फैलाये हुए एक भारी चिड़िया जैसी है। स्त्रियाँ भी उद्यागों में काम करती थीं। धातु उद्योग बहुत अधिक आगे बढ़ा हुआ था।

सूत्रों में वैदिक काल से कहीं अधिक वृहत्तर सामाजिक विकास दिखाया गया है। परन्तु साथ-साथ कठोरता भी दिखायी गयी है जो पहले के युग में नहीं थी। इसी सिलसिले में हमें सूत्रों के दो वर्गों--ग्रह व धर्म सूत्र--पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। गृह सूत्रों में मुख्यतः व्यक्ति के परिवार, घरेलू जीवन तथा गार्हस्थ्य उत्सव-समारोहों पर विचार किया गया है। इन सूत्रों में यह बताया गया है कि बाल्यावस्था से लेकर अन्त्येष्टि तक मनुष्य के क्या-क्या कर्त्तव्य हैं तथा उक्त समारोहों को जीवन के प्रत्येक मुख्य चरण के रूप में दिखाया गया है। जन्म संस्कारों के पूर्व तथा जन्म के बाद के, नवजात शिशु के नामकरण, शिशु द्वारा सर्वप्रथम अन्न-ग्रहण (अन्न-प्राशन), पहले-पहल शिशु के बालों के कटने के (मुण्डन), छात्र जीवन में प्रविष्ट होने तथा उससे वापस घर लौटकर विवाह करने तथा गृहस्थ जीवन में पदार्पण करने तक के अनेक समारोह (संस्कार) गृह सूत्रों में दिये गये हैं।

उक्त सूत्रों में विवाह आठ प्रकार के बताये गये हैं--(१) ब्रह्म, (२) प्रजापत्य, (३) आर्ष, (४) दैव, (५) गांधर्व, (६) असुर, (७) राक्षस तथा (८) पैशाच। प्रथम चार प्रकार के विवाह वैध तथा अन्तिम दो अवैध माने गये हैं। ब्रह्म विवाह में कन्या को अपने विवाह के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है। और वह स्वेच्छा से अपना पति चुनती है। प्रजापत्य विवाह में विवाह के प्रार्थी की ओर से विवाह का प्रस्ताव उपस्थित किया जाता है। आर्ष विवाह में कन्या का पिता एक जोड़ी गाय का उपहार पाता है। दैव विवाह में दूल्हा (वर) यज्ञ के पुरोहित के रूप में रहता है। गांधर्व विवाह प्रेम-विवाह है। असुर विवाह में दहेज लिया जाता है और ऐसे विवाह केवल वैश्वों तथा शूद्रों में होते हैं बलात् कन्या का अपहरण करके और लड़के जो विवाह होता है उसे राक्षस विवाह कहा जाता है। कन्या के गुप्त अपहरण को पैशाच विवाह कहते हैं।

किन्तु ये विचारधाराएं विचारधाराओं के रूप में रह जाती हैं और जीवन की यथार्थता के स्थान पर परम्परा में निहित हो जाती हैं।

क्रमशः आन्तरिकता से अधिक वाह्यता या वाह्य स्वरूपों पर अधिक जोर दिया जाने लगता है और शरीर का व्यक्ति से अधिक महत्व हो जाता है। अस्तु, जाति के उलट–पलट में चार वर्णों की धर्म विधि के जन्म, आर्थिक कर्म, धार्मिक कर्मकांड, पवित्र देश, पारिवारिक प्रथाओं जैसे वाह्य स्वरूपों में से प्रत्येक अपने अनुपात और महत्व को अधिकाधिक बढ़ाने लगते हैं। योग्यता और क्षमता (स्वभाव) के बजाय जन्म से मनुष्य की जाति निश्चित होने लगी। जन्म ही जाति का एकमात्र कसौटी बन गया। उदाहरण के लिए, एक ब्राह्मण का पुत्र हमेशा ब्राह्मण माना जाने लगा। जन्म और व्यवसाय दोहरे बन्धन हो गये और यह बपौती बन गयी।

अन्ततः आर्थिक आधार तर्क विश्रंखलित होने लगा और जन्म, परिवार, रस्म–रिवाज व अवशेष, कुरूपताएं तथा काल्पनिक धार्मिक चिन्हों व पूजा–पाठ संबंधी विधियों की उत्तरोत्तर वृद्धि हमारे प्राचीन समाज के लौह-युग में जाति–व्यवस्था की पक्की ग्रन्थि बन गयी। महाकाव्य–काल के बाद पुरोहित और पंडित ब्राह्मण, रईस और सामन्त क्षत्रिय, व्यापारी और धन कमाने वाले वैश्य और आधा पेट खाने वाले मजदूर तथा आर्थिक गुलाम शूद्र के नामों से मशहूर हो गये। बाद में पुरानी व्यवस्था के भंग होने पर जाति प्रथा, एक निर्जीव तथा धोखे की टट्टी मात्र रह जाती है और अब आज व्यक्तिवादी युग में इस को भंग कर देना चाहिए अन्यथा यह जीवन की व्यवस्था को दुर्बल और झठा बना देगी।

इस प्रकार जाति–प्रथा आरम्भ हुई और उसका विकास हुआ। स्वतन्त्रता का स्थान कठोरता ने ले लिया; उदारता के स्थान पर हर बात को अपने से बाहर रखने की नीति, आ गई तथा भिन्न–भिन्न जातियों के उनके भिन्न–भिन्न रूपों में बनाये रखने के लिये नियम और रूढ़ियाँ बन गयीं। वेदोत्तर काल में क्रमशः अन्तर्विवाह पर प्रतिबन्ध लग जाते हैं, एक वर्ण से दूसरे में शामिल होना मुश्किल हो जाता है और दो वर्णों का प्रभुत्व स्थापित होने लग जाता है।

आर्थिक क्षेत्र में अनवरत प्रगति और उन्नति होती रहती है। कृषि तथा ग्रामीण उद्योगों का अधिकाधिक विकास हो जाता है। उदाहरण के लिए हल का आकार बहुत बड़ा और भारी हो जाता है और इसको चलाने में २४ साँड़ों की आवश्यकता हो जाती है। चावल, जौ, लोबिया और तिल आदि अनेक प्रकार

उक्त सूत्रों में प्रत्येक गृहस्थ के लिए नित्य पंच महा यज्ञ सम्पन्न करना आवश्यक है—(१) अध्ययन व शिक्षा, (२) पूर्वजों को तर्पण, (३) देवताओं को नैवेद्य व पूजा, (४) भूतों को बलि, (५) अतिथियों का सत्कार। समय-समय पर भिन्न-भिन्न अन्य यज्ञ भी करने पड़ते हैं। सामाजिक व्यवस्था जाति एवं आश्रम पर आधारित वर्णाश्रम धर्म पर टिकी हुयी थी।

जाति-प्रथा कठोर हो गयी थी जैसा कि पहले बताया जा चुका है। आश्रमों के नियम भी बहुत महत्वपूर्ण थे। ये आश्रम चार थे जिनसे हर व्यक्ति को गुज-रना पड़ता था। (१) ब्रह्मचारी (छात्र), (२) गृहस्थ (विवाहित), (३) वाणप्रस्थ तथा (४) सन्यास। धर्म सूत्र सामाजिक रस्म-रिवाजों तथा प्रथाओं के ग्रन्थ थे और नागरिक तथा अपराध संबंधी कानून इन्हीं सूत्रों पर आधा-रित थे। पूरे भारतवर्ष में रस्म-रिवाज़ और प्रथाएं एक से नहीं थे। उत्तर तथा दक्षिण में बहुत बड़ा अन्तर था। उदाहरण के लिए उत्तर में मामा या बुआ की लड़की से किसी व्यक्ति का विवाह नहीं होता था। परन्तु, ऐसा विवाह दक्षिण में प्रचलित था। दक्षिण के लोग शस्त्रास्त्रों और लकड़ी का व्यापार करने तथा समुद्र की यात्रा करने की उत्तरी प्रथा से घृणा करते थे।

## कानून

कानून के स्रोत राजा नहीं बल्कि वेद तथा अन्य धर्म शास्त्र थे। विभिन्न वर्गों तथा प्रदेशों के कानूनों एवं रस्म-रिवाजों का भी सम्मान किया जाता था। भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय अपने-अपने नियम और कानून बनाया करते थे। व्यापारिक संघों तथा संस्थाओं को स्वतन्त्रता थी। नागरिक कानून में करों तथा उत्तराधिकार के प्रश्न पर विचार किया गया था। अपराध संबंधी कानून में मार-पीट, व्यभिचार, परस्त्रीगमन तथा चोरी मुख्य अपराध माने गए थे। यज्ञ या उत्तराधिकार के संबंध में स्त्रियाँ पराधीन नहीं थीं। सूत्रों में शहरी जीवन को पसन्द नहीं किया गया है।

निःसन्देह यह युग साहित्य का स्वर्ण युग था। इस युग की शिक्षा-प्रणाली इतनी सुन्दर और अच्छी थी कि इसकी ख्याति सर्वत्र फैली हुई थी। इस युग का प्रादुर्भाव उस समय के विद्यालयों तथा शिक्षालयों से ही हुआ था। बालक उपनयन-संस्कार के बाद विद्यार्थी के रूप में नए जीवन में प्रविष्ट होता था और तब वह "द्विज" कहा जाता था। अर्थात् उसका दूसरा जन्म माना जाता था। नये ब्रह्मचारी के जीवन में विद्यार्थी को "सादगी से रहना और उच्च

विचार रखना" सिद्धान्त पर चलना पड़ता था। उसको सख्त नियमों का पालन करना पड़ता था। शिक्षा का उद्देश्य विश्वास, ज्ञान, सन्तति, धन, दीर्घायु तथा अमरत्व को प्राप्त करने की शक्ति को प्राप्त करना है अर्थात् शिक्षा के उद्देश्य लौकिक तथा अध्यात्मिक दोनों हैं।

उक्त व्यवस्था का सार तत्व यह है कि विद्यार्थी को अपने अध्यापक (गुरु) के घर पर रहना पड़ता था। यहाँ उसके मुख्य कर्त्तव्य गुरु के लिए भिक्षा माँग लाना, यज्ञादि का प्रबन्ध करना तथा गुरु के घर एवं पशु धन की देख रेख रखना आदि थे। दिन में सोना निषिद्ध था। भिक्षा माँगने से विद्यार्थी में नम्रता आती थी। यज्ञादि का प्रबन्ध करने से उसमें आत्मज्ञान होता था। इसी प्रकार पशुओं की देखरेख करने से विद्यार्थी का खुली हवा में व्यायाम होता था, उसे दुग्धशाला सम्बन्धी तथा अन्यान्य विषयों की शिक्षा मिलती थी। साथ ही गुरु उसे ज्ञान के भिन्न-भिन्न स्वरूपों का ज्ञान कराता था।

उक्त घरेलू शिक्षालयों के अतिरिक्त विद्योपार्जन के विशिष्ट केन्द्र भी थे और परिवार के सदस्यों तथा घरों में विचार विनिमय भी होते थे। पर्यटक विद्वान् और चारक लोग भी होते थे जो देश भर में पर्यटन करके शिक्षा का प्रसार करते रहते थे। राजाओं द्वारा विद्वानों के सम्मेलन भी बुलाये जाते थे और इससे भी शिक्षा आगे बढ़ती थी और इनसे लोग विशेष शिक्षा प्राप्त करते थे। उपनिषदों में राजा जनक द्वारा बुलाये गये इसी प्रकार के एक सम्मेलन की चर्चा की गयी है जिसके याज्ञवल्क्य प्रमुख विद्वान् थे।

स्त्रियाँ इन सम्मेलनों में खुल कर भाग लेती थीं। गार्गी जैसी महिलाओं ने दार्शनिकों की एक महासभा में भाषण दिया था। ऋग्वेद में हम स्त्रियों को मन्त्रों व गीतों की रचना करते हुए पाते हैं। क्षत्रिय लोग भी विद्या को प्रोत्साहन देते थे और कई क्षत्रिय इस युग के बौद्धिक नेता थे।

शिक्षा का उद्देश्य उच्चतम ज्ञान—आत्मज्ञान—था। इसका उदाहरण कथोपनिषद् में उल्लिखित नचिकेता की कहानी से दिया जा सकता है।

नचिकेता एक ब्राह्मण लड़का था जिसको मृत्यु के देवता 'यम' ने शिक्षा-दीक्षा दी थी। नचिकेता के पिता ने अपनी सारी सम्पत्ति दान कर देने की प्रतिज्ञा करते हुए एक वृहत् यज्ञ किया। किन्तु उसने दान में बाँझ गायें तथा बेकाम की चीजें ही दीं। उसी समय नचिकेता ने पिता की ओर घूम कर पूछा—"आप मुझे किसी को देंगे ?" पिता ने क्रोध में आकर उत्तर दिया—"मैं तुझे मृत्यु

को दूंगा।" जो बात मुंह से निकल चुकी थी वह झूठी नहीं हो सकती थी। नचिकेता चल पड़ा और मृत्यु के निवास स्थान पर जा पहुंचा। यम बाहर थे। इसलिए बिना आतिथ्य-सत्कार प्राप्त किए नचिकेता को वहाँ यम की प्रतीक्षा करनी पड़ी। जब यम लौट कर आये तब उन्होंने बिना आतिथ्य सत्कार प्राप्त किए नचिकेता को प्रतीक्षा करते हुए पाया। इसलिए यम ने नचिकेता को प्रति फल के रूप में तीन वरदान देने का वचन दिया।

नचिकेता ने यम से पहला वरदान यह माँगा कि उसके पिता को क्षमा कर दिया जाय, दूसरा वृहत् आग्नेय यज्ञ के लिए निर्देश माँगा और उसने तीसरा वरदान यह माँगा कि "मनुष्य जब मर जाता है तब कुछ लोग कहते हैं कि वह जीवित है और कुछ कहते हैं कि वह नहीं है; अर्थात् मनुष्य की मृत्यु में लोगों में सन्देह रहता है। मैं यही आपसे सीखना तथा जानना चाहता हूं"। यम ने उसको ऐसे प्रश्न से हटाने का व्यर्थ प्रयत्न करते हुए उसे अपार धन तथा अनेक पुत्र आदि प्रदान करने का वचन दिया। परन्तु नचिकेता ने केवल यह उत्तर दिया कि "ये वस्तुएं कल तक ही रहेंगी, ऐ मृत्यु! यहाँ तक कि सम्पूर्ण जीवन ही अल्पकालीन है। अपने घोड़े, नृत्य, गीत आदि अपने पास ही रखो। कोई भी मनुष्य धन से सुखी नहीं बनाया जा सकता।" इस पर यम अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने नचिकेता को ब्रह्म-अजन्मा, अनन्त और चिरायु---के स्वरूप के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान कराया। इस प्रकार नचिकेता उन विद्वानों की श्रेणी में शामिल हो गया जो परिवर्तनशील पदार्थों में आत्मा को अपरिवर्तित रूप में जानते हुए दुःख नहीं करते।

## धर्म तथा दर्शन

कर्मकांड, समारोहादि सम्बन्धी धर्म की बहुत वृद्धि हो गई और फलस्वरूप पण्डिताई भी बहुत बढ़ गयी। परन्तु इस समय मूर्ति-पूजा होती थी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता। यज्ञ तथा पवित्र अग्नि के लिए वेदियाँ बनाई जाती थीं। शिव तथा विष्णु जैसे हिन्दुओं के आधुनिक देवता निकलने लगे। ऐतरेय उप-निषद् में "भूतपति" नामक देवता सामने आये जो देवताओं के भयावने स्वरूपों के प्रतिनिधि थे।

उपनिषदों में जैसा दिखाया गया है, यह युग दर्शन के विकास के लिए बहुत प्रसिद्ध था। दस प्रमुख उपनिषदों का पहले ही उल्लेख किया जा चुका

है। इनके अतिरिक्त मुक्ति उपनिषद् में लगभग १०० उपनिषदों की और सूची दी गयी है।

उपनिषदों में उन विचारधाराओं को विकसित किया गया है जो संहिताओं (वेदों) में अंकुर के रूप में हैं। साथ ही इन विचारधाराओं को सादे, परिमार्जित एवं परिष्कृत रूप में रखा गया है ताकि लोग उसे सरलता से समझ सकें। उपनिषदों का केन्द्रीय विषय और लक्ष्य भिन्नता में एकता प्राप्त करना है। "वह क्या है जिसे जान लेने पर इस जगत की प्रत्येक वस्तु ज्ञात हो जाती है।" इस प्रश्न का उत्तर वह 'ईश्वर' या 'ब्रह्म' है जो इस जगत् का अन्तिम कारण और उद्देश्य है। आत्मा का अस्तित्व ईश्वर के साथ-साथ रहता है। वह ज्ञानी न कभी जन्म लेता है और न कभी मरता है .....वह जन्मरहित, अनन्त, अविनाशी और प्राचीन है।"

आत्मा, प्रकृति एवं ईश्वर यही तीन उपनिषदों के मुख्य विषय है।

मानव में शरीर के अतिरिक्त एक आत्मा होती है जो अन्य समस्त इन्द्रियों, मस्तिष्क तथा प्राण (जीवन-शक्ति) से भिन्न है। इसका नाश नहीं होता और यह अविनाशी है। मृत्यु के बाद यह अपने पिछले कार्य या ज्ञान के अनुसार ऊंचे या नीचे विभिन्न जगत् में जाता है। वह पुनः इस जगत् में वापस भी आ सकता है। जबतक हममें अविद्या अर्थात् अज्ञानता है हम आत्मा को नहीं ढूढ़ सकते। जब हम अपनी भावनाओं (वासनाओं) के शिकार न हों और आत्म-संयम तथा आत्म-नियन्त्रण के द्वारा अपने को पवित्र करलें तब समाधि एवं तपस्या के द्वारा हम आत्मा को प्राप्त कर सकते हैं जो ईश्वर के ही स्वरूप का है। आत्मा के समान प्रकृति भी अनादि है क्योंकि हम इसके ठीक उद्गम का पता नहीं लगा सकते। सृष्टि का प्रारम्भ अटल ब्रह्म से हुआ। "आत्मा से, जो ब्रह्म के ही स्वरूप का है, अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ, इससे हवा बनी, हवा से अग्नि बनी, अग्नि से पानी और पानी से पृथ्वी उत्पन्न हुई।" इन पंच-तत्वों के साथ अन्य तत्व भी हैं जो सब भिन्न-भिन्न अनुपातों में एक में मिलकर सभी शरीरों तथा मस्तिष्कों का निर्माण करते हैं।

उपनिषद् का ईश्वर या ब्रह्म सगुण एवं निर्गुण दोनों है। सगुण रूप में "वह सबका मालिक, सर्वज्ञ, आन्तरिक राजा और सब का कारण है। ब्रह्म इस संसार का राजा है। वह इसे बनाता है, इसकी रक्षा करता है और अन्त में इसको भंग कर देता है। उसको ईश्वर कहा जाता है जो सभी शरीरों तथा मस्तिष्कों को सम्मिलित करता है। अपने निर्गुण स्वरूप में, वह सभी लगावों,

गुणों से रहित है। वह अनन्त तथा सच्चिदानन्द है। निर्गुण ईश्वर का संकेत सभी लगावों की नकरात्मकता—नेति, नेति,—से मिलता है।

उपनिषदों की प्रमुख विशेषता सत्य पर निर्भरता है। "सत्य की सदा जय होती है, असत्य की नहीं। सत्य दैवत्व तक ले जाने वाला मार्ग बनाता है।" पश्चिमी दार्शनिकों पर उपनिषदों की गहरी छाप पड़ी है। शापेनहार कहता है —"उपनिषद् उच्चतम ज्ञान (बुद्धि) की उपज है......उपनिषदों का अध्ययन मेरे जीवन की प्रसन्नता रही है और यह मेरी मृत्यु की भी प्रसन्नता होगी।"

उपनिषद् यह भी बताते हैं कि मनुष्य में अध्यात्मिकता की उन्नति धन एवं साँसारिक वस्तुओं के उपार्जन की विरोधी नहीं थी। इस प्रकार लोगों ने सच्ची अनुकूलता की खोज की थी। उपनिषदों में प्रकृति के हमारे भागों में अनुकूलता को जीवन की आधारभूत आवश्यकता बताया गया है। और इस पर उपनिषदों में अधिक जोर दिया गया है। परन्तु इस अनुकूलता का आधार भी आत्मा–मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ सत्य—है। उपनिषदों ने जीवन को अस्वीकृत नहीं किया है परन्तु यह कहा है कि संसार 'अनन्त' एवं 'ब्रह्म' का प्रदर्शन है और यहाँ सब कुछ ब्रह्म है। छान्दोग्य उपनिषद् के 'तत्वमसि' (तुम्ही हो) तथा वृहदारण्यक उपनिषद् के 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूं) ये दो वाक्य अन्य उपदेशों सहित मत्यु की खोज करने वाले की नम्रता के रूप को प्रकट करते हैं। "मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन" के अनुसार वे मानव–आत्मा की पुष्टि भी करते हैं। मस्तिष्क को यह अवश्य समझना चाहिए कि विश्व में कोई पृथकता नहीं हो सकती। निम्नलिखित एक दूसरा कथन भी उपयुक्त है:— "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो। न चयप्रमादत्तपसा वाप्यलिंगात।" अर्थात् दुर्बल मनुष्य इस परम आत्मा तक नहीं पहुंचते। सीमा से बाहर रमते रहने या उद्देश्यरहित या अनिर्देशित सन्यास से भी इसे नहीं प्राप्त किया जाता।" अस्तु, उपनिषद् वेदोत्तर संस्कृति के उपयुक्त चोटी (अग्रभाग) है और इन्होंने वेदों में जो अप्रकट है उसे प्रकट किया है।

---

## २

# महाकाव्यों का युग

रामायण तथा महाभारत में जिस संस्कृति का चित्र खींचा गया है वह वीर-गाथा-महाकाव्य-युग की संस्कृति है।

प्रारम्भिक काल में भी भारत में वीरगाथाओं की कथाएं थीं परन्तु वीरगाथा की रचना कविता में नहीं हुयी थी। ऋग्वेद में आख्यान (कहानियाँ) तथा इतिहास (इति हा अस=ऐसा था) भी है या ब्राह्मणों में पौराणिक कथाएं भी हैं। पुराणों (पुराने दिनों की कहानियाँ) का तो पूर्ण साहित्य है।

हम लोग कहानियाँ सुनने के जितने प्रेमी हैं उतने शायद कुछ ही लोग हों। हमारे यहाँ भाट, चारण, सूत, कुसिलव, कथक आदि जातियाँ तथा अन्य जन-प्रिय कहानी सुनाने वाले हैं। दिन भर के थके मादे भारतीय मज़दूर तथा किसान आग के चारों ओर गोलाकार बैठकर तीन हजार वर्ष पूर्व की कहानी या नाटक को ध्यान से रात–रात भर सुनते रह सकते हैं। हमारी जो राष्ट्रीय वीर-गाथा महाकाव्य है वह कई लेखकों द्वारा भिन्न–भिन्न युग में रचित गीतों का संग्रह है। कई संपादकों द्वारा इसे बारबार नया-नया रूप दिया गया है।

"भारत के वंशजों के युद्ध की महान् वीरगाथा महाभारत का एक केन्द्रीय विषय है जिसके अन्तर्गत उसके उदाहरण के लिए अनेकानेक कहानियाँ बनाई गयी थीं। केन्द्रीय विषय निम्नलिखित हैः—

"हस्तिनापुर के राजा पाण्डु की मृत्यु असमय में ही हो गयी और उनके बड़े भाई धृतराष्ट्र, जिनको अन्धा होने के कारण पाँडु के लिए गद्दी छोड़नी पड़ी थी, राजा हस्तिनापुर के राजा हुए और उन्होंने पुनः सत्ता प्राप्त की। पाँडु के पुत्रों के साथ ही धृतराष्ट्र के पुत्रों "कौरवों" का पालन-पोषण हुआ। शीघ्र ही चचेरे भाइयों में फूट पड़ गयी। कौरवों में सबसे बड़ा दुर्योधन पाँचों पाँडवों की योग्ता से ईर्ष्या करने लगा। उसनें पाँडवों को राज्य से निकलवा दिया और बनवास करा दिया। बनवास में पाँचों

पाँडव घूमते-फिरते पाँचाल राज्य में पहुंच गए। वहाँ के राजा ने अपनी पुत्री द्रौपदी उनको ब्याह दी और द्रौपदी सब पाँडवों की पत्नी हो गई। बाद में पाँडवों को राज्य में उनका जो भाग था वह मिल गया और वे इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) में जा बसे।"

"फिर, बाद में युधिष्ठिर को बहकाकर (फुसलाकर) दुर्योधन ने जुआ खेलवाया और चालबाजी करके युधिष्ठिर को, उसके सब भाइयों तथा उसके राज्य को जीत लिया। उनकी पत्नी द्रौपदी का निर्दयतापूर्वक अपमान किया गया। पाँडव लोग अपने मामा (चाचा) की सहायता से बचकर भाग निकले और बन में चले गये। बनवास की अवधि समाप्त होने पर पाँडवों ने कौरवों से पुनः अपने राज्य के हिस्से की माँग की। जब कौरवों ने उनका भाग देने से इन्कार कर दिया तब दोनों में युद्ध छिड़ गया। पाँडवों को श्री कृष्ण ने, जो ईश्वर के अवतार माने जाते हैं, सहायता दी और उन्होंने अर्जुन को एक उपदेश दिया जो 'गीता' के नाम से प्रसिद्ध ह। युद्ध में पाँडवों की विजय हुयी। समस्त कौरव युद्ध में मार डाले गये। धृतराष्ट्र बन में चले गये, तथा पाँडव हस्तिनापुर में वापस आ गये। और उन्होंने अपना जीवन सुखपूर्वक व्यतीत किया।"

महाभारत कहानियों से भरा हुआ है और इसके पूर्णतः सम्पादन में कई शताब्दी का समय लगा। यह निष्कर्ष इसकी काव्य-रचना की शैली से प्रकट है। मुख्य पद श्लोक है जो दो पंक्तियों का होता है। ये पंक्तियाँ "प्राचीन अनुष्टुभ" पर आधारित थे। अनुष्टुभ में चार चरण (अधूरी चौपाई) होते थे। प्रत्येक चरण में ८ वाक्खंड होते थे। प्रत्येक पंक्ति के अन्त में दो वाक्खंड रहते थे। किन्तु अन्य ऐसे छन्द भी हैं जिनका उद्गम वेदों से हुआ है। कुछ भाग गद्य में भी है। भाषा में भी वैदिक काल तथा उच्चकोटि (Classical) के युग (२०० ई० पू० से लेकर सन् ४०० ई० तक) के बीच की भाषा का उतार-चढ़ाव है।

महाभारत विश्व के महाकाव्यों (वीरगाथाओं) में सबसे बड़ा है और इसमें १००,००० श्लोक या छन्द हैं। ५ वीं शताब्दी (ई० पू०) से लेकर आज तक के सभी युगों के भारतीय साहित्य में महाभारत के वीरों का प्रमुख उल्लेख है। इसकी कहानियाँ विश्व के समस्त भागों में फैली हुयी हैं। यह लौकिक तथा धार्मिक भारतीय ज्ञान का अपरिमित भण्डार है। और यह भारतीयों के आत्मा की आन्तरिकतम गहराई का सूक्ष्म दर्शन कराता है।

कहानी–संग्रह , काव्य या वीरगाथा, शास्त्र या विधि–ग्रन्थ, सामाजिक तथा राजनीतिक दर्शन के कोष आदि सभी रूपों में महाभारत महान् ग्रन्थ है। इसमें उत्कृष्ट भाषा के द्वारा भावों तथा गौरवयुक्त घटनाओं का वर्णन किया गया है। यह मुक्ति का पथ–प्रदर्शन करने का महान् साधन है। इस महाकाव्य के शाँति पर्व में कहा गया है कि "यह पवित्र रहस्य है , मानवता से अधिक कुछ भी महान् नहीं है।" कहा जाता है कि कृष्ण द्वैपायन व्यास न इस महाकाव्य (वीरगाथा) की रचना की थी।

जिस समय यह वीरगाथा प्रारम्भ हुयी थी उस समय गंगा तथा यमुना की घाटियों का प्रदेश सभ्यता का केन्द्र था। उस समय यहाँ कुरु, पाँचाल, साल्व, मत्स्य आदि समृद्ध राज्य तथा मथुरा के यादवों का महासंघ कायम थे। इस वीरगाथा के अन्त तक आर्य सभ्यता समस्त भारतवर्ष में फैल चुकी थी।

## सामाजिक तथा आर्थिक जीवन

जाति–प्रथा कठोर हो चुकी थी परन्तु इतनी नहीं जितनी कि बाद के युगों में हुयी। चार वर्णों के अतिरिक्त मिश्रित जातियाँ भी हो गयी थीं। जाति प्रथा कितनी कठोर हो गई थी इसका पता इस घटना से लगता है कि द्रोणाचार्य ने एकलव्य नामक एक शूद्र को दीक्षा देने से इन्कार कर दिया था। जाति–भेद नहीं था इसके भी उल्लेख पाये गये हैं। महाभारत के वन पर्व में चार वर्णों के गुणों का वर्णन किया गया है जिसमें ब्राह्मण उसे बताया गया है जो क्रोध एवं मूर्खता का परित्याग कर दे, सच बोलता हो, अपने गुरुजनों को प्रसन्न रखता हो, किसी को क्षति न पहुंचाता हो, अपने ऊपर नियन्त्रण रखता हो, धार्मिक हो, अध्ययन करता हो तथा गुरु एवं अन्य लोगों का भक्त हो।

इस युग में भी स्त्रियों को समाज मे सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था। ऐसा कहा जाता था कि "नारी, रत्न, पानी" ये तीन चीजें अपवित्र नहीं होतीं। सावित्री, शकुन्तला, दमयन्ती तथा ताप्ती की कहानियों में इस बात का चित्रण किया गया है कि स्त्रियों में कितनी महानता थी। महाभारत मे जिन वीर महिलाओं का उल्लेख है उनको पिता के घर पर अच्छी शिक्षा मिली थी और वे आगे चल कर सुशिक्षित और शास्त्रार्थ में पारंगत भी सिद्ध हुई थीं। स्त्रियाँ अपना पति स्वयं चुन कर उससे विवाह कर सकती थीं और वे सार्वजनिक कार्यों में भी खुल कर भाग लेती थीं।

आर्थिक रूप में, इस युग में हमारे देश एवं समाज की भारी प्रगति हुयी। सम्पर्क विस्तृत हो गये और देश भर में व्यापार होने लगा। यदि पुराणों पर विश्वास किया जाय तो भारतीयों ने समुद्र यात्राएं भी कीं और उस देश को भी विजय किया जिसे आजकल अमेरिका कहा जाता है। कई विद्वानों के अनुसार अमेरिका की प्राचीन "माया सभ्यता और प्राचीन भारतीय सभ्यता में निकटतम सामंजस्य रहा है"। व्यापार के अलावा उद्योगों, कलाओं एवं दस्तकारी में भी काफी प्रगति हुई और इस युग में शहरी जीवन का भी महत्व बढ़ा अन्ततः इस युग में जनता पूर्णतः सुखी एवं समृद्ध थी।

## धर्म और दर्शन

इस युग में ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीन देवताओं की अधिक पूजा होने लगती है और इनकी पूजा का महत्व बढ़ जाता है। इन तीन देवताओं में भी विष्णु और शिव को अधिक विशेषता दी जाने लगती है। इसी युग में कृष्ण तथा राम की पूजा भी काफी प्रचलित हो गयी। यद्यपि वीर-गाथा युग में कुबर, वरुण, पारण तथा इन्द्र का उल्लेख मिलता है, फिर भी वैदिक देवताओं का महत्व इस युग में बहुत कम हो गया। धर्म के वाह्य स्वरूपों की पूजा या कर्मकांडों का महत्व बहुत बढ़ गया था। मूर्तियों का प्रसार बहुत हो गया था और भिन्न–भिन्न मूर्तियों की पूजा होने लगी थी।

परन्तु धर्म और दर्शन दोनों ही क्षेत्रों में वैदिक युग ही अनवरत हमारी संस्कृति की पृष्ठ भूमि बना रहता है। बड़े–बड़े परिवर्त्तन होते रहते थे। स्कंद और विशाखा नामक नए देवता का नाम इसी युग में आया। वीरों एवं योद्धाओं को देवताओं में शामिल किया जाने लगा। इस युग में पूरी सृष्टि को रचना एवं विनाश का क्रम और "अनन्त" को चिरजीवी मान लिया गया। और 'कर्म' प्रधान के सिद्धान्त का प्रचलन हो गया। इस सिद्धान्त का अर्थ यह है कि प्रत्येक अपने पूर्व जन्मों में किए गए कार्यों का फल भोगता है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति ईश्वर की उचित उपासना करता है तो ईश्वर की कृपा से इस नियम में संशोधन भी संभव है। इस प्रकार 'धर्म' के भक्ति स्वरूप का प्रभुत्व कायम हो गया और भक्ति का महत्व बढ़ गया। आगे चल कर भिन्न-भिन्न देवताओं के भिन्न-भिन्न भक्त हुए और प्रतिद्वंद्विता होने लगी। फलस्वरूप भक्तों और देवताओं में विभाजन दिखाई देने लगा। इस पृथकतावाद को रोकने के प्रयास भी किये गये और इसीलिए यह भी दिखाया गया कि "विष्णु और शिव एक समान हैं और एक हैं।"

उपनिषदों में ब्रह्म की एकता की जो शिक्षा दी गयी है उस पर पुनः जोर दिया जाने लगा और त्रिमूर्ति की विचारधारा प्रकाश में आयी। आत्म–संयम, त्याग और सतर्कता मनुष्य को ब्रह्म में पहुंचाते हैं, मृत्यु बुद्धिहीनता से होती है और सत्य से अमरत्व प्राप्त किया जाता है। इस सिद्धान्त का प्रसार हो गया।

## रामायण

रामायण महाभारत से पुराना ग्रन्थ है। इसमें बाद में काफी क्षेपक भी जोड़े गये हैं और परिवर्तन भी किये गये हैं। यह एक मात्र ऐसा ग्रन्थ है जो सुरीले रूप में लिखा गया है और ऐसी भाषा में लिखा गया है जो अपने युग के उच्च साहित्य और ऋषियों की संस्कृति का प्रमाण है। महान् ऋषि वाल्मीकि इसके लेखक हैं। यह वीरगाथा काव्य सात काँडों में विभाजित है जिनमें से प्रथम तथा अन्तिम काँड की रचना बाद में की गयी। रामायण की कहानी संक्षेप में यह है कि अयोध्या के राजा दशरथ के सबसे बड़े पुत्र राम को अपनी सौतेली माता के डाह के कारण १४ वर्ष का बनवास दिया जाता है। वे अपनी पत्नी सीता और एक भाई लक्षमण सहित बन में चले जाते हैं। यहाँ राक्षसों का राजा रावण राम की पत्नी सीता का बलात् अपहरण करता है और सीता को उड़ते हुए रथ में लंका ले जाता है। राम अपनी पत्नी की तलाश करने लगते हैं और इसमें उन्हें सुग्रीव और हनुमान के नेतृत्व में बानरों की सहायता प्राप्त होती है। रावण राम से सन्धि करके सीता को वापस देने से इन्कार कर देता है। फलस्वरूप युद्ध होता है जिसमें रावण तथा उसके वंश का एक-एक व्यक्ति मारा जाता है और राम इस प्रकार सीता का उद्धार करके अयोध्या में वापस आते हैं।

## सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति

रामायण पूर्ण जीवन के कई पहलुओं के चित्र प्रस्तुत करता है। इस युग में राष्ट्र समृद्धि के ऊंचे स्तर पर पहुंच चुका था। जनता के पास घोड़े, बैल, भैंस, अनाज तथा धन अपरिमित हो गया था। प्रजाजन पूर्ण सुखी एवं समृद्ध थे। समाज का प्रत्येक वर्ग अपने–अपने उत्तरदायित्व को पूरा करता था। कृषकों तथा व्यापारियों पर विशेष ध्यान रखा जाता था। पूंजी सुव्यवस्थित एवं सुरक्षित रखी जाती थी और उसका सदुपयोग होता था। सड़कें सुन्दर ढंग से बनी थीं। उनकी सफ़ाई नियमित होती थी। सैनिक तथा सामरिक दृष्टि से भी राष्ट्र पूर्णतः सुसज्जित था। चाहे जो राजा हो या शासक हो या

अधिकारी हों, वे नियम पूर्वक जनता से परामर्श करते थे और जनता उन्हें स्वतन्त्र परामर्श देती थी ।

शिक्षा इतनी सुसंगठित थी कि समाज का हर वर्ग न केवल अपने कर्त्तव्यों के विवरण को ही जानता था वरन् वह यह भी जानता था कि उसे सार्वजनिक योजना में क्या योगदान करना है । विद्या के सभी केन्द्रों को राजकीय संरक्षण प्राप्त था ।

प्रत्येक यज्ञ समाज के हर समस्त वर्गों के सम्मिलन, समारोह को सफल बनाने में अपना बौद्धिक दान देने तथा उचित भेंट प्राप्त करने का अवसर होता था । यज्ञ "विश्व मेला" या प्राचीन काल में "धर्मों की महासभा" होते थे । इन यज्ञों में राजा अपना सर्वस्व अर्पण कर देते थे ।

स्त्रियों को पुरुषों के समान इस अर्थ में माना जाता था कि पति यश प्राप्ति या अध्यात्मिक विकास के लिए जो कुछ भी करता है उस सब में पत्नी का पूरा भाग रहता है । समस्त समारोहों, कर्मकांडों आदि में पत्नी पति के साथ-साथ बैठती थी । विवाह को पवित्र विश्वास माना जाता था ।

## धर्म और दर्शन

महाभारत के समान रामायण –युग में भी हम वैसी ही पूजा, वैसा ही प्रतीकवाद और वैसे ही कर्मकांड पाते हैं । विष्णु, शिव, लक्ष्मी, पार्वती जैसे देवी–देवताओं के असंख्य भक्त हो गए और इनकी पूजा की धूम मच गयी । भक्ति पर फिर जोर दिया जाने लगा । लोगों के मस्तिष्क और शरीर ने नैतिकता का रंग ले लिया । रामायण भारतीय मस्तिष्क की कार्य प्रणाली का सबसे पूरा चित्र प्रस्तुत करता है । जीवन की समस्याओं के प्रति सामान्य भारतीय रुख के लिए भी यह उत्तरदायी है । यहाँ इस बात को फिर जोर से कहा जाता है कि वेदों का प्राचीन दर्शन इस युग में भी जारी रहता है, केवल इसके रंग–रूप बदले जाते हैं । इस संबंध में निम्नलिखित कुछ वाक्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं:——

"ऐ राजा, खुश करने वाली बात कहने वाले लोग आम तौर पर मिलते हैं, किन्तु ऐसे लोग मुश्किल से मिलते हैं, जो खुश न करने वाली बात कहते हों, परन्तु ऐसी बात को सुनने वाले भी बहुत थोड़े होते थे, पर वे अच्छे होते हैं ।"

"ओ महान् पुरुष, वास्तव में आशा शक्तिशालिनी होती है। आशा से अधिक शक्तिवान कोई भी शक्ति नहीं है। जिसके पास आशा है उसके लिए इस विश्व में कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं है।

आज दिन तक रामायण हमारे देश के हिन्दुओं का प्रिय ग्रन्थ है और राम उनके प्रिय योद्धा हैं। आधुनिक भारत की सभी जीवित भाषाओं में इस ग्रन्थ का अनुवाद हो चुका है। राम के असंख्य मन्दिर इस देश में स्थापित हैं और होते जाते हैं। रामायण की कहानियाँ कई प्रसिद्ध भारतीय पुस्तकों का विषय बन गयी हैं। उत्तर भारत में तुलसीदास द्वारा रचित रामायण एक उच्च कोटि का साहित्य एवं ग्रन्थ है। और इसमें वेदों, उपनिषदों तथा पुराणों में भरे हुए ज्ञान का सार दिया गया है।

इन दो महान् वीर-गाथाओं का युग धर्म का युग है। इनमें मनुष्य के जितने कार्य चित्रित किये गये हैं उन सब में प्राचीन आदर्शों की प्रेरणा थी। इस धर्म के युग में मनुष्य पूर्णतः मानसिक प्राणी था-मनुष्य की बुद्धि तीक्ष्ण और सर्व-ग्राही थी। नैतिकता एवं पुराणों के विकास पर बहुत जोर दिया जाता था। मानव-प्रकृति के सदाचार संबन्धी पक्ष को अत्यधिक महत्व दिया जाता था। और पूर्वजों द्वारा बनाये गये कर्त्तव्यों को सम्पन्न करना ही सदाचारिता का आधार माना जाता था। इस युग में वीरतापूर्ण कार्यों का युग तथा प्रारम्भिक एवं सुन्दर नैतिक सभ्यता दिखायी देती है। किन्तु यह भी मिलता है कि मनुष्य सिद्धान्तों और विश्वासों का बन्दी (कैदी) हो जाता है और जीवन की स्वतन्त्र गति पर उसी कैद को लादना चाहता है। इसके बावजूद भी उक्त वीरगाथाओं के युग में भी हमको प्रत्यक्ष आर्यों द्वारा छोड़ी गयी सांस्कृतिक सम्पत्ति दिखायी देती है।

---

# षष्ठ अध्याय

## जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म

ये दोनों धर्म हिंदू संस्कृति और धर्म के मुख्य स्त्रोतों से अत्यधिक भिन्न तथा दर्शन एवं धर्म की वामपंथी व्यवस्थाएँ मानी जाती हैं। कई यूरोपीय विद्वानों ने यही मतस्थिर किया। परंतु इतिहासज्ञों के भारतीय सम्प्रदाय ने इस मत को चुनौती दी है।

पहले तो, हिंदू संस्कृति कभी भी "अवरुद्ध व्यवस्था" नहीं रही। हमारे यहाँ इस प्रकार केअनेक कहावतें हैं कि 'सत्य एक है", यद्यपि ऋषियों द्वारा इसको विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया है। इसलिए हिन्दू दर्शन ने कई शाखाओं के विचारों को प्रोत्साहित किया हैं और इसने कभी भी मानव की कल्पना एवं विचारों को सीमित या अवरुद्ध नहीं किया। महावीर और बुद्ध को हिन्दू देवताओं की श्रेणी में सम्मिलित कर लिया गया। यह उक्त कथन का स्पष्ट प्रमाण है।

दूसरी बात यह है कि इन धर्मों को ब्राह्मण या वैदिक धर्म से निकला हुआ माना जाता है। इनका आधार पूर्व व्यवस्था के कुछ ऐसे स्वरुप हैं जिनको इन्होंने चुन लिया और दूसरों के निष्कासन पर जोर दिया।

दोनों ही विशेषतः प्रारंभिक चरण में सन्यास पर ज़ोर देते हैं और इस-लिए इन धर्मों ने कोई नई विचारधारा नहीं प्रस्तुत की। केवल शाब्दिक परि-वर्तन ही किया। वेदों में ऋषियों–मुनियों के उल्लेख मिलते हैं जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिए सन्यास लेते थे। आरण्यक स्वयं ऋषि–मुनियों की तथा वनों की उपज हैं। दूसरी ओर, उपनिषदों ने उन लोगों के लिए संसार-त्याग को आवश्यक बताया है जो सर्वश्रेष्ठ ज्ञान–आत्मज्ञान–की खोज करना चाहते हैं। स्मृतियों में इस बात पर जोर दिया गया है कि सन्यास मानव-जीवन का अंतिम चरण है। वेदों में पर्यटक साधुओं व योगियों की भी चर्चा की गई है। ये सन्यासी अपनी निजी व्यवस्था या सम्प्रदाय संगठित करते थे। पाणिनि के समय में (लगभग छठवी शताब्दी ई० पू०) भिक्षु सूत्रों–

आचारविधि—का प्रचलन था जिसमें उल्लिखित नियमों से इन पर्यटक भिक्षुओं एवं सन्यासियों का जीवन शासित रहता था। बुद्ध ने भिक्षुओं को जो आदेश दिए थे और उनके लिए जो नियम क़ायम किए थे वे पहले से ही भिक्षु-सूत्रों में पाए जाते हैं। उदाहरण के लिये, वर्षा में एक निश्चित आश्रय में ठहरने, उपभोग्य वस्तुओं का भंडार एकत्रित न करने तथा किसी प्राणी की हत्या न करने और बीजों तक को नष्ट न करने के बौद्धभिक्षुओं के लिए जो नियम थे, वे भिक्षुसूत्रों में पहले से ही उल्लिखित हैं।

इन धर्मों में नैतिकता संबन्धी जो धार्मिक सिद्धांत हैं, वे भी उपनिषदों में पाये जाते हैं। इसी प्रकार इन सम्प्रदायों ने जिज्ञासा की भावना, बौद्धिक विचार विनिमय तथा तर्कों को जो प्रोत्साहन दिया है वह भी वेदोत्तर युगों के लिए नयी बात नहीं है। उपनिषदों में राजा जनक द्वारा आयोजित ऐसे प्रसिद्ध विचार विनिमयों का उल्लेख है जिसमें स्त्रियाँ तक भाग लेती थीं। इसके अतिरिक्त, इन सम्प्रदायों के समकालीन सन्यास विषयक ऐसी सैकड़ों व्यवस्थाएँ थीं जिनमें बौद्ध एवं जैन धर्मों के दर्शन तथा आचारों के बीज मिलते हैं। चारवाक जैसे भौतिक या अनीश्वरवादी विचारधारा के भी विद्वान् सन्यासी थे जिन्होंने कई दृष्टियों से इन दोनों धर्मों के सिद्धान्तों को पहले ही प्रचलित किया था। अहिंसा या सब प्राणियों के जीवन का आदर करने का सिद्धान्त हिन्दुओं के लिये नया न था।

बुद्ध और महावीर दोनों में से एक ने भी नया धर्म प्रचलित करने का दावा नहीं किया है। मौलिक दृष्टि से वैदिक दर्शन और आचार-व्यवहार में प्रायः स्वतंत्रता और कर्मकाण्डवाद तथा परम्परावाद एवं विश्वासों के प्रभावों से संघर्ष हुआ इसलिए जब सही अन्वेषक ने इस धर्म का (पाँचवी छठी शताब्दी ई० पू० में) प्रवर्तन किया तब धर्म जीवन के साथ सामंजस्य ला रहा था। धर्म की उच्च भावना जीवन के अनाध्यात्मिक माँगों की संतुष्टि के अधीन होती जा रही थी और इस प्रकार धर्म अपने आत्माविहीन स्वरूपों में नष्ट हो रहा था और पंडिताई की लपेट में आता जा रहा था। इसलिए उस अन्वेषक का संसार से विरक्ति एवं सन्यास की बात सोचना स्वाभाविक था ताकि मनुष्य स्वतंत्रता के जीवन, धर्म के पवित्र सत्य तथा आत्मा में रहने के योग्य हो सके। अस्तु, बौद्ध एवं जैन धर्म भारत के अध्यात्मिक जीवन के एक महत्वपूर्ण चरण का प्रतिनिधित्व करते हैं। और इसलिए इनको वाममार्गी व्यवस्था नहीं माना जाना चाहिए।

## जैन धर्म

जैन धर्म का प्रवर्तन बौद्ध धर्म से पहले हुआ था। लोगों का ऐसा विश्वास है कि महावीर ने इस धर्म का प्रवर्तन किया था परंतु जैन धर्मानुयायी इसकी पुष्टि नहीं करते। अप्पास्वामी चक्रवर्ती के अनुसार "जैन धर्म संभवतः वेदों के जितना ही पुराना है। ऋग्वेद के मंत्रों में ऋषभ तथा अरिष्टनेमि नामक दो जैन तीर्थंकरों के स्पष्ट उल्लेख हैं। ऋषभ को ही वर्तमान काल के जैन धर्म का प्रवर्तक माना जाता है।" अप्पास्वामी का यह भी कथन है कि विष्णु-पुराण तथा भगवत्पुराण में ऋषभ की कहानी है। इन पुराणों में ऋषभ को विष्णु के दस अवतारों के पूर्व का एक अवतार बताया गया है। महाभारत में नेमिनाथ का उल्लेख है, जिनको जैन लोग अपना २२ वां तीर्थंकर मानते हैं। पार्श्वनाथ २३ वें तीर्थंकर माने जाते हैं। ये ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और जैन परम्परा के अनुसार ये महावीर के लगभग ढाई सौ से अधिक साल पहले हुए थे।

महावीर २४ वें तीर्थंकर थे। तीर्थंकर का शाब्दिक अर्थ 'तीर्थ या घाट के निर्माता' है। महावीर "जिन" अर्थात् विजयी भी कहे जाते हैं और 'जिन' शब्द से जैन धर्म बना। कहा जाता है कि इन्होंने 'निर्ग्रन्थ' की व्यवस्था स्थापित की। इस व्यवस्था के प्रति इनके माता-पिता बहुत आकर्षित हुए। निर्ग्रन्थ का शाब्दिक अर्थ "बिना बन्धन" है। इस व्यवस्था या सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को अहिंसा (किसी की हत्या न करने), संऋता (सच बोलने), आस्तेय (चोरी न करने) तथा ब्रह्मचर्य अर्थात् पवित्र रहने की चार प्रतिज्ञाओं पर चलना पड़ता है। यह पवित्र जीवन इसलिए संभव है क्योंकि हमारे कार्य नैतिक स्वतंत्रता के परिणाम हैं।

## महावीर का जीवन चरित्र

महावीर के निर्ग्रन्थ, जिन, श्रमण आदि विभिन्न नाम हैं। इनका जन्म जैन परम्परा के अनुसार ५९९ वर्ष (ई० पू०) में हुआ था। राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार इनकी मृत्यु ईसा के ५४६ वर्ष पूर्व हुई थी। चूंकि वे ७२ वर्ष तक जीवित रहे इसलिए उनकी जन्मतिथि ६१८ वर्ष (ई० पू०) होगी। कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया के अनुसार इनकी मृत्यु ईसा से ४६७ वर्ष पूर्व हुई। महावीर का नाम वर्धमान था और ये वैसाली के समीपस्थ कुन्दपुर के ज्ञात्रिक क्षत्रिय वंश में पैदा हुए थे। वैसाली पटना के उत्तर में स्थित है। उनके पिता

सिद्धार्थ एक राजा थे। इसलिए उनका विवाह लिच्छवियों के राजा की बहिन त्रिसिला से हुआ था।

बाल्यावस्था से ही महावीर का मस्तिष्क विचारवान् था। तत्कालीन राजकुमारों के समान सभी प्रकार की शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद इन्होंने संसार की परिवर्तनशील प्रकृति को पहचाना और ये ३० वर्ष की आयु में ही सन्यासी हो गए। इन्होंने १२ वर्ष तक कठोर तपस्या की। इस अवधि में इनको अज्ञानी लोगों द्वारा दी गई अनेक यातनायें भी सहनी पड़ीं। किन्तु अन्त में, ये प्रबुद्ध होगए।

इस प्रकार महावीर ने १३वें वर्ष में ही निर्वाण को प्राप्त कर लिया और वे अरहत, जिन, केवलिन तथा सर्वज्ञ हो गये। तत्पश्चात् ये पर्यटन करने लगे और लोगों को अपने उपदेश देने लगे। इस पर्यटक-जीवन में भी उन्हें दुष्ट लोगों की यातनाएँ सहनी पड़ीं, इन पर ग्राम रक्षकों के भी हमले हुए, इन्हें वल्लमधारियों का मुकाबला करना पड़ा, स्त्रियों की ओर से इनको तरह तरह के प्रलोभन भी दिये गये और अन्य पर्यटकों ने भी इन्हें तरह तरह के कष्ट दिये।

पर्यटन में इनकी भेंट गोसाल से भी हो गई और ये दोनों ६ वर्ष तक साथ-साथ रहे। बाद में इन दोनों में मतभेद होगया और दोनों एक दूसरे के आलोचक हो गए। इसके पश्चात् गोसाल ने आजीविका मत चलाया। महावीर के जीवन में ही जैन धर्म के टुकड़े होना शुरू हो गया था। महावीर को शक्तिशाली राजकीय संरक्षण प्राप्त था जिसने इनके सिद्धांतों को देशभर में फैलाया। इनको बिम्बिसार, अजातशत्रु तथा लिच्छवि राजा राजा चेतक जैसे बड़े २ राजाओं की सहायता प्राप्त थी। इसलिए इनका प्रभाव दूर-दूर के उन राज्यों में भी फैल गया जो उक्त राजाओं के मित्र थे। इनको तत्कालीन प्रजातन्त्र सरकारों की भी सहायता प्राप्त थी।

अन्य प्रसिद्ध शिष्यों के अतिरिक्त इनके ११ प्रमुख शिष्य थे जिनको गण,धार' या 'जैनमत के दूत' कहा जाता था।

## महावीर के उपदेश

जैन दर्शन संक्षप में यह है कि ीवित तथा अजीवित परस्पर मिल-कर कुछ शक्तियाँ उत्पन्न करते हैं जो जन्म, मृत्यु तथा जीवन के विभिन्न अनुभव उत्पन्न करती हैं; मुक्ति तक पहुंचाने वाले सदाचार के क्रम के द्वारा

इस प्रणाली को रोका जा सकता है इसका अर्थ निम्नलिखित सात बातें हैं—

"(१) कोई ऐसी चीज है जिसे 'जीवित' कहा जाता है, (२) कोई ऐसी चीज है जिसे 'अजीवित' कहा जाता है; (३) दोनों में परस्पर सम्पर्क होता है; (४) इस सम्पर्क से कुछ शक्तियाँ पैदा होती हैं (५) सम्पर्क की इस प्रणाली (गति) को रोका जा सकता है; (६) उक्त शक्तियों को भी नष्ट किया जा सकता है, (७) मुक्ति को प्राप्त किया जा सकता है।" जैनियों द्वारा इन उक्त सात बातों को सात तत्व या वास्तविकताएं कहा जाता है।

उक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि कार्यों को नष्ट किया जाना चाहिए। यदि एक गृहस्थ पहले बुरे कर्म से बचे और क्रमशः कर्म करना बन्द कर दे तो वह कार्यों को नष्ट कर सकता है। इस महान् कार्य को करने के पहले मनुष्य को नैतिकता के ५ नियमों---अहिंसा, सत्य, आस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (सम्पत्ति को सीमित करना)–का पालन करना पड़ता है। इसके अलावा नैतिकता के छोटे नियम भी हैं, जैसे प्रत्येक गृहस्थ को तैयार भोजन की सामग्री में से नित्य ऐसे पवित्र व्यक्ति को भोजन कराना चाहिए जो उचित समय पर उसके घर पर पहुंच जायं। सदाचार का पूरा क्रम कई चरणों में विभाजित है ताकि अन्ततः मुक्ति की प्राप्ति हो जाय। भिक्षु और साधारण मनुष्यों में अन्तर यह है कि भिक्षु सभी सांसारिक वस्तुओं का पूर्णतः परित्याग कर देता है और अपने छत तक के नीचे भी रहना बन्द कर देता है। भिक्षु को केवल दिन में ही भ्रमण करना चाहिए और इस बात का पूर्णतः ध्यान रखना चाहिय कि उसके द्वारा किसी की भी हत्या न हो। वार्तालाप के समय उसे अपनी प्रशंसा और दूसरे की बुराई न करना चाहिए। उसको स्त्री के विषय में भी बातचीत न करनी चाहिए। उसको अपने को ऐसा बना लेना चाहिए ताकि भावनाओं के प्रवाह उसे प्रभावित न कर सकें। उसको सभी विषयों से विरक्त होकर तपस्या, समाधि और 'अर्हतों और सिद्धों' का जीवन यापन करते हुए मुक्ति के लिए अपने को तैयार करना चाहिए। अस्तु, मुक्ति, सही विश्वास, सही ज्ञान और सही कार्यों (जिन्हें 'रत्नत्रय' अर्थात् तीन रत्न कहा जाता है) पर निर्भर है।

इस पुस्तक में हमने यह दिखाने का प्रयास किया है कि हमारी संस्कृति

का वैदिक परम्पराओं से कितना गहरा सम्बन्ध है। जैन धर्म भी इसका अपवाद नहीं है। "बुरे कार्यों से बचने और अच्छे कार्य करने" की शिक्षा उपनिषदों में भी दी गई है। उदाहरण के लिए, उपनिषद् में कहा गया है कि "अच्छे कार्य करने से मनुष्य अच्छा और बुरे कार्य करने से बुरा होता है।" 'योग' में भी उपर्युक्त पाँच प्रमुख नियम तथा तपस्याओं पर जोर डाला गया है।

महावीर की मृत्यु के बाद जैन धर्म में फूट पड़ने लगी। मौर्यकाल में विशेषतः यह फूट बढ़ गई और 'दिगम्बर' तथा 'श्वेताम्बर' नामक दो प्रतिद्वंदी मत में जैन धर्म बंट गया। दिगंबर उन्हें कहा गया जो नग्न रहते हों और श्वेत वस्त्र पहनने वाले जैन लोग 'श्वेताम्बर' कहे जाने लगे। इन दो प्रमुख मतों के अलावा अन्य छोटे-छोटे मत भी पैदा हो गये। इसी समय कुछ जैन दक्षिण भारत चले गये।

## जैन शास्त्र

अर्धमगधी ( भारत की एक प्राचीन देशी भाषा ) तथा संस्कृत या सौरसेनी (मथुरा की भाषा) में लिखित जैन साहित्य को श्वेताम्बर व 'दिगंबर' नामक दो मुख्य सम्प्रदायों के अनुसार बाँटा जा सकता है।

श्वेताम्बरों के शास्त्र ११ अंगों (भागों), १२ उपाङ्गों (उपभागों तथा मिश्रित लेखों के दस संग्रहों (पैपन्ना, प्राकीर्ण), ६ विधि-ग्रंथों (छेद सूत्र) ४ मौलिक ग्रंथों (मूल सूत्र) तथा कुछ असम्बद्ध पुस्तकों में हैं। अंगों में सन्यासियों के नियम, सत्य तथा मिथ्या विश्वास में भेद, धार्मिक शिक्षाप्रद कहानियाँ, समस्याएं तथा उनके हल आदि विषय हैं।

उपाङ्गों में भूगोल, सूर्य-चन्द्र का ज्ञान, नीचे के विश्व का वर्णन, महावीर के उपदेश आदि हैं। पपन्नों में सदाचार, मानवता की नैतिकता संबंधी नियम, देवताओं का वर्गीकरण, ज्योतिष आदि विषय हैं। छेद सूत्र में अनुशासन एवं आचार-व्यवहार सम्बन्धी नियम हैं। मूल सूत्र में सन्यास जीवन, भिक्षुओं के अनुभव, सन्यासी-जीवन तथा नैतिकता के सिद्धान्तों से सम्बन्धित गीत एवं उपमाएं दी गई हैं

श्वेताम्बर मत के जैन लोग अङ्गों को नहीं मानते और 'धवल' 'जयधवल' तथा 'महाधवल' नामक तीन ग्रंथों को मानते हैं। ये तीनों ग्रंथ

कविता में लिखे हुए हैं और अभी भी अप्रकाशित हैं। इस मत के ४ वेद भी हैं जो संस्कृत या सौरसेनी भाषा में लिखे हुए हैं।

जनों ने भारत को वृहत् अशास्त्रीय साहित्य, भी दिया है जिनमें सिद्धान्त, विज्ञान, इतिहास या पौराणिक कथाएं, वीर गाथाएं, कहानियाँ, काव्य-ग्रंथ आदि हैं।

## जैन धर्म का प्रभाव

इस समय हमारे देश भर में लगभग १० लाख ५० हजार जैन धर्मानुयायी हैं। भारतीय कला एवं साहित्य में जैनियों ने जो योगदान किया वह निराला और विशेष ढंग का है। उनकी चित्रकला व शिल्प-विद्या उनके अपने ढंग की तथा अनूठी है। उनकी मूर्तियाँ वृहदाकार की और गहरे रंग की होती हैं उनकी वृहत् अधर प्रस्तर प्रतिमाओं को देखकर चकित रह जाना पड़ता है। गौतम की प्रस्तर मूर्ति ७० फीट ऊंची है। मध्ययुगीन जैन मन्दिरों में आश्चर्यजनक सौन्दर्य देखने को मिलता है। पर्वतों पर उन्होंने अद्भुत मन्दिरों एवं नगरों का निर्माण किया था। गुजरात में गिरनार और पालिताणा (जिसमें ८६३ मन्दिर हैं), राजपूताना में आबू की चोटियों पर बने हुए सफेद संगमर्मर के मन्दिर आदि कुछ ऐसे प्रसिद्ध स्थान हैं जो जैनियों की सौन्दर्यग्राही भावना के ज्वलन्त प्रतीक हैं।

## बौद्ध धर्म

भगवान बुद्ध बौद्ध धर्म के प्रवर्तक थे। पौराणिक कथाओं के अनुसार उनसे पहले २४ बुद्ध हो चुके थे। इनमें से प्रत्येक ने पूर्ण प्रबुद्ध होने की प्रतिज्ञा की और बोधिसत्व (जिसका बुद्ध होना निश्चित था) के रूप में प्रत्येक बुद्ध योग्यताओं को प्राप्त करने तथा अच्छा काम करने के लिए असंख्य योनियों में रहे। इसलिए, क्रमशः चूहा, मछली, छिपकली, मेंढक, सांप, मोर, कठफोड़वा, सियार, हरिण, हाथी, सिंह, चीता, कुम्हार, लुहार, जुआरी, चोर, राजा, सन्यासी और ब्राह्मण आदि का जीवन व्यतीत करते हुए भगवान बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ।

इनका जन्म कपिलवस्तु (नेपोल) के लुम्बिनी उद्यान में, लंका की परम्परा के अनुसार, ईसा से ६२३ वर्ष पूर्व हुआ था। इनके पिता का नाम शुद्धोदन

और माता का नाम माया था। शुद्धोदन शाक्यों के गौतम परिवार के थे और आधुनिक राजा नहीं बल्कि शकों के एक प्रधान (सरदार) थे। शकों के राज्यों में प्रजातांत्रिक सरकारें थीं। भगवान बुद्ध के जन्म के पूर्व उनकी माता माया ने स्वप्न में अपने गर्भ में ६ सूँड़ के सफेद हाथी को प्रविष्ट होते देखा था। लंका की परम्परा के अनुसार ही भगवान बुद्ध ८० वर्ष की आयु तक जीवित रहे। इनके जन्म के एक सप्ताह बाद इनकी माता का स्वर्गवास हो गया और इनकी सौतेली माँ तथा इनकी माता की चाची ने इनको पाला-पोसा। उस समय इनका नाम सिद्धार्थ था परंतु आज उनके शाक्य मुनि, सर्वार्थसिद्ध, गौतम बुद्ध, तथागत आदि विभिन्न नाम हैं। इनका पालन-पोषण विलासिता में हुआ था। आगे चलकर उनका विवाह यशोधरा (बौद्धधर्म के उत्तर भारतीय ग्रंथों के अनुसार) से हो गया। यशोधरा से उनके एक पुत्र भी हुआ। परंतु वृद्धावस्था, रुग्णता, मृत्यु, शोक और अपवित्रता जैसे विभिन्न दृश्यों को देखकर उनको महान शोक हुआ और जिस रात्रि में उनके पुत्र का जन्म हुआ उसी रात्रि में वे २९ वर्ष की आयु में घर छोड़कर चले गये।

जीवन का रहस्य और मुक्ति का मार्ग जानने के लिए वे पहले कई गुरुओं के पास रहे। गुरुओं के यहाँ रह कर जब वे सफल न हुए तब उन्होंने अत्यंत कठोर तपस्याएँ की और कुछ समय बाद उनका शरीर अस्थिपिंज्जर मात्र रह गया। परंतु इससे भी उनको सन्तोष न हुआ। उनके जो पाँच साथी थे वे भी उनके मार्ग को गलत समझ कर और उन्हें सही रास्ते से हटता हुआ देखकर उनको छोड़ गए। ६ वर्ष की कठिन तपस्या के बाद उन्होंने फिर पर्यटन शुरू किया और पर्यटन करते हुए नैरंजना नदी पर पहुँचे। कहते हैं कि बुद्ध गया में एक पीपल के वृक्ष के नीचे वे "प्रबुद्ध" हुए। इसी वृक्ष को अब बोधि वृक्ष कहा जाता है।

तदुपरान्त, वे पर्यटन करने लगे और देश भर में घूम-घूम कर लोगों को अपना उपदेश देने लगे। बनारस के निकट हिरण उद्यान में (जहाँ आजकल सारनाथ है) उन्होंने अपना प्रथम धार्मिक उपदेश दिया। उनके प्रथम शिष्य वे ही ५ ब्राह्मण थे जो उनकी तपस्याओं में उनके साथ थे। उन्होंने अपने उपदेश देना और दूसरों को बौद्ध बनाना जारी रखा और इस कार्य में पर्याप्त राजकीय संरक्षण व सहायता मिली। अस्सी वर्ष की आयु में कुशिनारा (कुशीनगर) में इनकी मृत्यु हो गई।

## उनकी धार्मिक शिक्षा

एक भिक्षु को आत्म–पीड़ा तथा लालसाओं से दूर रहना चाहिए। उसे निम्नलिखित चार सत्यों को समझ कर मध्यम मार्ग पर चलना चाहिए।

१––जन्म, वृद्धावस्था, रुग्णता, मृत्यु, दुःख, शोक, उदासी में होने वाली पीड़ा का सत्य,

२––जीवन की लालसा, लिप्सा, मोह, हर्ष, पुनर्जन्म आदि की पीड़ा के कारण का सत्य,

३––लालसाओं को समाप्त करने और संसार त्यागने में होने वाली पीड़ा की समाप्ति का सत्य,

४––उस मार्ग (आठ मार्ग) का सत्य जो पीड़ा का अन्त करता है। यह मार्ग ठीक विचार, इच्छा, बोलना, काम करना, जीविका, प्रयत्न, मस्तिष्क पूर्णता, तथा चित्त की एकाग्रता का है।

पवित्र जीवनयापन करना ही भगवान् बुद्ध के उपदेशों का केन्द्र था। वासना, लालच, लोभ तथा मायाजाल ये तीन प्रबुद्धता के मार्ग में बाधाएं हैं। उन्होंने लोगों को यह शिक्षा दी कि वे यह मान लें कि लोभ, दुर्भावना क्रोध, धोखा देना, ईर्ष्या–द्वेष, हठ, घमण्ड, वृथागौरव तथा असावधानी मानव मस्तिष्क के बन्धन हैं। उन्होंने सब प्राणियों के प्रति दया (अहिंसा) पर जोर दिया।

बुद्ध, उनके नियम तथा संघ आदि तीन रत्नों की उत्तमता को मानना ही बौद्ध धर्म (विश्वास) है।

गृहस्थों के हत्या न करने, चोरी न करने, झूठ न बोलने, शराब न पीने तथा व्यभिचार न करने की शिक्षा दी जाती थी। पुरोहितों के लिए समस्त यौन सम्भोग से दूर रहना तथा अपने साथ कुछ भी न रखना आवश्यक था। वे पीले वस्त्र, चावल–पात्र, एक छुरी, एक सुई तथा एक छन्ना रखते थे। यह छन्ना उनके पानी पीते समय मुंह के अंदर छोटे कीड़ों को जाने से रोकता था, इस प्रकार उनकी हत्या नहीं होती थी। भिक्षु लोग विहार में रहते थे। यहाँ इनकी दो श्रेणियाँ होती थीं। एक नए भिक्षुओं की, जिन्हें पूर्ण भिक्षु बनने के पूर्व शिक्षा लेनी पड़ती थी और दूसरी पूर्ण भिक्षुओं की। बौद्ध

धर्म भी हिन्दू धर्म का ऋणी है कारण इसके बहुत से सिद्धांत उपनिषदों से लिए गये हैं। कर्म, संस्कार और आवागमन (पूर्वजन्म) के सिद्धान्त उपनिषदों में हैं। साँख्य दर्शन तथा बौद्धदर्शन दोनों में कई समानताएँ हैं।

जैनधर्म की भाँति बौद्ध धर्म में भी आगे चल कर कई मत हो गये जिनका हम आगे उल्लेख कर रहे हैं।

जैन धर्म भारत की सीमा के अन्दर ही रहा और इसके अनुयायी मुख्यतः मध्यभारत, गुजरात एवं राजपूताना में पाये जाते हैं। किन्तु, बौद्ध धर्म एशिया के सभी भागों में, विशेषतः दक्षिण-पूर्वी एशिया में फैल गया था। इन दोनों धर्मों ने भारत को साहित्य का वृहत् भंडार दिया है।

बौद्ध धर्म के सैद्धान्तिक प्रसार के कारण निम्नप्रकार हैः—

१—बौद्धधर्म ने उन समस्त कर्मकाण्डों को मिटाकर उनको स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया जिन्होंने ईसा पूर्व छठवी शताब्दी में हिन्दू सिद्धान्तों को भ्रष्ट कर दिया था। जीवन की समस्याओं के प्रति इसने नये बौद्धिक तरीके अपनाये।

२—बौद्ध धर्म के सदाचार संबंधी नियम एवं विधि अत्यंत विस्तृत थे और गूढ़ नहीं थे। वे लोगों की समझ में आसानी से आ जाते थे।

३—बौद्ध धर्म के ग्रंथ संस्कृत में नहीं थे वरन् तत्कालीन जनता की मातृभाषा (प्रचलित भाषा) में लिखे गये थे। इसलिये जनता में आकर्षण हुआ।

४—अशोक, कनिष्क आदि राजाओं से प्राप्त संरक्षण।

५—सेवा तथा त्याग के सिद्धान्त एवं सब को प्रेम करने के उपदेश का भी बौद्ध धर्म की सफलता में प्रमुख भाग था।

६—इन सबके अलावा संघ, इसके भक्त, उनके सदाचार तथा उदाहरण आदि बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के प्रसार के साधन थे। कहा जाता है कि बुद्ध के व्यक्तित्व के जादू के प्रभाव का भी इस धर्म को प्रसारित करने में प्रमुख भाग था किंतु यह बात तो अन्य सभी धर्मों के विषय में सच्ची है।

## बौद्ध शास्त्र

बौद्ध धर्म के प्रमुख धर्म-ग्रंथ त्रिपिटक के तीन विभाग हैं। नैपाली या

संस्कृत, तिब्बती या चीनी भाषा में छपे हुए हैं। ये तीन विभाग हैं– विनय (सदाचार, अनुशासन), सूत्र (कहानियाँ) तथा अभिधर्म (आत्मज्ञानविद्या)।

१—विनय में सूत्रों की व्याख्या, भिक्षु–भिक्षुणियों के दैनिक जीवनचर्या सम्बन्धी तथा इसी प्रकार के अन्यान्य विषय हैं।

२—सूत्रों में अन्य विषयों के अतिरिक्त उपदेश (जो गीता के समान प्रसिद्ध हैं), आध्यात्मिक अभिलाषाएँ, जातक (बुद्ध के पूर्व जन्म की कहानियाँ) तथा शाक्यमुनि के पूर्व के २४ बुद्धों की कथाएँ हैं।

३—अभिधर्म में दार्शनिक सिद्धान्त हैं और इसमें व्यक्तित्व, आत्मिक सिद्धान्त स्थिर वाले तत्व तथा भिक्षुओं के लिये उपयोगी विवाद आदि प्रश्नों पर विचार किया गया है।

इनके अतिरिक्त मिलिन्द पन्ह–राजा मेनान्दर के प्रश्न, कथाएँ, सिंहली इतिहास–दीपवंश तथा महावंश–तथा अन्य कई ग्रन्थों के समान वृहत् अशास्त्रीय साहित्य भी है।

## बौद्ध धर्म का प्रभाव

जैन धर्म केवल भारत में ही रहा परन्तु बौद्ध धर्म का विदेशों को निर्यात हुआ और इसने विश्व के सभी भागों, विशेषतः दक्षिण–पूर्वी एशिया के निवासियों को आकर्षित किया। अभी हाल में ही मध्य एशिया में जो खंडहर (अवशेष) पाये गये हैं उन्होंने उन बौद्ध विहारों (मठों) को प्रकट किया है जो गोबी के मरुभूमि के नीचे दब गये थे। पश्चिमी विद्वान् भी इस धर्म की ओर आकर्षित हैं। कुछ लोगों के अनुसार इस धर्म में ईसाई धर्म के कई सिद्धान्त हैं। सिलवेन लेवी, एडुअर्ड शेवन्स, माइनेर सेशरबाट्स्की (रूसी) तथा इटली के तुकी, रीस डेविड्स, ओल्डेनबर्ग आदि प्रसिद्ध पश्चिमी लेखक तथा विद्वान् बौद्ध धर्म से प्रभावित हुए।

भारत में भी बौद्ध धर्म ने हमारी कला की विभिन्न शाखाओं पर अपना प्रभाव डाला है। इसकी अहिंसा की नीति हमारे हिन्दू धर्म का एक अङ्ग बन गई और बुद्ध ईश्वर के अवतार मान लिए गए। इस धर्म के महायान मत के मूर्तिपूजा विधि से हम परिचित हैं।

## बौद्ध संघ

कई पश्चिमी लेखकों ने व्यंग्य करते हुए हमारे देश में प्रजातान्त्रिक

संस्थाओं के न होने की बात लिखी है। हाल में जो खोज हुए हैं उन्होंने उनकी इस बात का खोखलापन सिद्ध कर दिया है। वेदों से लेकर बौद्ध साहित्य तक में प्रजातान्त्रिक सरकारों के होने के प्रमाण मिलते हैं। बुद्ध द्वारा स्थापित संघ या धार्मिक व्यवस्था तत्कालीन सरकारों के प्रजातान्त्रिक रूप से संबन्धित होने के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

बुद्ध ने कभी भी संघ का प्रधान होने का दावा नहीं किया और न उन्होंने अपना कोई उत्तराधिकारी ही नामजद (मनोनीत) किया। यहाँ तक कि अपने प्रसिद्ध शिष्य सारियुत्त और मोग्गलाना में से भी किसी को उत्तराधिकारी नहीं मनोनीत किया।

संघ में सम्मिलित होने वाला श्रमण (भिक्षु) अपना आचार्य (गुरु) निर्वाजित करने में स्वतन्त्र होता था।

जो भिक्षु संघ के नियमों (पातिमोक्ख) की पुस्तक को पढ़ता था वह कुछ समय के लिए संघ का प्रधान होता था और उसे संघपरिनायक कहा जाता था।

संघ-प्रधान के लिए सच्चा ब्रह्मचारी होना तथा बौद्ध दर्शन व इसके नियमों में पारंगत होना आवश्यक था। जब भिक्षुओं की सभा होती थी तब एक विशेष अधिकारी छोटे बड़े के क्रम के अनुसार भिक्षुओं के बैठने के स्थानों का प्रबन्ध करता था।

संघ के भिन्न-भिन्न उद्देश्यों के लिए भिन्न-भिन्न सामूहिक गीत निर्धारित थे और इनको क्रमशः ४, ५, १०, २० या इससे अधिक व्यक्ति एक साथ मिलकर गाते थे। इन सामूहिक गीतों को समाप्त करने के लिए एक सचेतक होता था जिसे गणपूरक कहा जाता था।

कार्यवाही के नियम निर्धारित थे। आजकल जिस प्रकार प्रजातान्त्रिक देशों की संसदों में प्रस्ताव पेश किए जाते हैं उसी रूप में संघ में भी प्रस्ताव प्रस्तुत किए जाते थे। प्रस्तावों की पूर्व घोषणा होना तथा उनका औपचारिक ढंग पर पेश किया जाना आवश्यक था। जो प्रस्ताव प्रस्तुत किए जाते थे उन पर तीन बार विचार किया जाता था। जो प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता था उन्हें संघ-कर्म (संघ का एक कार्य) कहा जाता था।

यदि कोई विवाद (झगड़ा) उपस्थित हो जाता था तो उसमें समझौता

कराने के भी उपाय थे। जैसे वह विवाद बड़ी सभा में विचारार्थ भेज दिया जाता था या नेताओं से उस विवाद को अपने-अपने दलों में पेश करने को कहा जाता था। समय की अवधि भी निश्चित कर दी जाती थी। अथवा समझौता कराने एवं तद्विषयक वार्ता करने के लिए एक उपसमिति नियुक्त कर दी जाती थी। जब इन तरीकों से समझौता नहीं हो पाता था तब वह विवाद पूरे संघ में विचारार्थ भेज दिया जाता था। जहाँ उस पर बहुमत से निर्णय होता था। संघ के एक विशेष प्रस्ताव के द्वारा एक मत-संग्रह (पोलिङ्ग) अधिकारी नियुक्त किया जाता था। मत (वोट) को छन्द कहा जाता था जिसका अर्थ 'स्वतन्त्रता' है। मतपत्र लकड़ी के बने तथा भिन्न-भिन्न रंगों से रंगे होते थे। ये रंग भिन्न-भिन्न मतों का प्रतिनिधित्व करते थे। संघ की कार्यवाही दर्ज करने के लिए सचिव या लिपिक (क्लर्क) होते थे। किसी विशेष प्रश्न पर पूरी जनता का मत लेने की भी प्रथा प्रचलित थी। उदाहरण के लिए, प्रथम जातक में एक राजा पूरे नगर के मतों से निर्वाचित किया गया था।

कई दृष्टियों से एक रूपी दो महत्वपूर्ण धर्मों का एक ही समय में और एक ही प्रदेश में प्रचलित हो जाना आकस्मिक नहीं है। उपनिषदों द्वारा प्रारम्भ किए गए युग में स्वतन्त्र जिज्ञासा की भावना थी और यह भावना यज्ञों और कर्मकाण्डों (पूजा-पाठ) के विरुद्ध थी। यह भावना ब्राह्मणों तथा उनके देवताओं एवं मनुष्यों के एक मात्र व्याख्याता होने के उनके दावे के विरुद्ध विद्रोह के रूप में प्रकट हुई। यज्ञों में व्यापक स्तर पर पशुओं की जो हत्या होती थी यह उसकी प्रतिक्रिया भी थी। इसके अतिरिक्त जहाँ जहाँ इन दो पैग़म्बरों ने अपने अपने उपदेश दिए वहाँ का वातावरण प्रजातान्त्रिक होगया, वहाँ प्रजातान्त्रिक सरकारें क़ायम हो गयीं। और इन सरकारों ने इन धर्मों के आन्दोलन में भारी सहायता पहुंचाई। ऊपर जो सामञ्जस्य दिखाए गये उनके अलावा भी जैन एवं बौद्ध धर्म में अन्य कई सामञ्जस्य हैं।

दोनों ही भारतीय हैं और दोनों की जड़ें परम्परागत हिन्द-आर्य विचारधारा के अतीत में खूब गहरी जमी हैं। जिन सिद्धान्तों का प्रचार किया गया उनके आधार उपनिषद थे। दोनों धर्मों ने पुनर्जन्म एवं कर्म की प्रचलित विचारधारा तथा सन्यास के आदर्श को स्वीकार किया। दोनों ने इस बात पर जोर दिया कि नैतिकता पर आधारित सक्रिय जीवन-यापन से मुक्ति प्राप्त होगी। निर्वाण या मोक्ष अध्यात्मिक

चेतना प्राप्त होने तथा सत्य को समझ लेने के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली स्वतन्त्रता की स्थिति से और अधिक कुछ भी नहीं है।

यह कहना उचित नहीं है कि इन धर्मों ने ईश्वर में विश्वास की भर्त्सना की। ये धर्म इन प्रश्नों के विषय में चिन्तित नहीं थे वरन् मौलिकता की चिन्ता में व्यस्त थे। किन्तु ये भारतीय धर्म और आध्यात्मिकता के मुख्य स्रोतों से दूर नहीं थे।

१—हीरालाल जैन—कल्चरल हेरिटेज आफ इण्डिया—वालूम १

२—पी. एम. आर्सल तथा अन्य—एंशिएन्ट इण्डिया एण्ड इण्डियन सिविलाइजेशन, पृष्ठ १४२

———
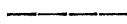
# सप्तम अध्याय

# स्मृति, पुराण और गीता

स्मृतियों में वे नियम तथा विधियाँ दी गई हैं जिनके द्वारा हिन्दू समाज अस्मरणीय काल से शासित होता चला आ रहा है। किसी समय पूरे भारतवर्ष में ये ही नियम व विधियाँ लागू थे। ये वैदिक स्रोतों से प्रवाहित भारतीय संस्कृति के मुख्य स्रोतों के भाग थे। ये स्मृतियाँ उस सनातन धर्म की प्रतिरूप हैं जो, यदि इसकी एकता और वेदों में जमे हुए इसके आधार पर प्रभाव न पड़े तो समय की गति और भावना के अनुसार बदल सकता है। स्मृतियों का अन्तिम रूप में सम्पादन गुप्तकाल में हुआ किन्तु इनकी मौलिक विचारधाराएं इससे बहुत अधिक प्राचीन हैं। स्मृतियाँ अनेक हैं पर सबसे प्रसिद्ध मनुस्मृति है। इसका यह नाम महान् विधि-निर्माता मनु पर रखा गया था। स्मृतियाँ केवल विधि-ग्रन्थ मात्र नहीं हैं। इसमें हिन्दू जीवन के सभी महत्वपूर्ण विवरण, वैयक्तिक और सामाजिक, दिए गए हैं।

## मनुस्मृति

मनुस्मृति हिन्दू कानून तथा सामाजिक व्यवस्थाओं पर उच्च कोटि का ग्रन्थ है। मनु बहुत प्राचीनकाल का नाम है। इनका मानव जाति का प्रथम राजा, सर्व प्रथम मानव तथा वैदिक ऋषि के रूप में तैत्तिरीय संहिता में उल्लेख किया गया है। मनुस्मृति नर्वदा के उत्तर की हिन्दू प्रथाओं तथा विधानों के वर्णन तक सीमित है। मनुस्मृति में जो सभ्यता दिखाई गई है उसका अध्ययन हम सामाजिक प्रथा-व्यवस्था, आर्थिक जीवन तथा शिक्षा के शीर्षकों के अन्तर्गत कर सकते हैं।

## आर्यों का समाज

यह समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा एक जाति (शूद्र) आदि द्वितजातियों को मिलाकर बना था। व्यभिचार, अयोग्य स्त्री से विवाह

तथा जाति सम्बन्धी कर्तव्यों के उल्लंघन से उत्पन्न मिश्रित जातियाँ भी थीं। आर्य से विवाहित अनार्य स्त्री की सन्तान को, यदि वह धार्मिक हो, आर्यों के समाज में ले लिया जाता था। इस प्रकार विदेशियों को भी इस समाज में ले लिया गया। सामाजिक जीवन जातियों तथा आश्रमों के नियमों से शासित था। ब्राह्मण का स्तर उसके चरित्र एवं अध्यात्मिक स्तर पर निर्भर करता था। ब्राह्मण ब्रह्म के अपने ज्ञान, सन्यास तथा जगत्-व्यापी सद्भावना के लिए प्रसिद्ध था। वह अध्यापक, न्यायाधीश, पुरोहित तथा प्रधान मन्त्री के रूप में कार्य करता था। यदि वह भोजन, दान, व्यवसाय और पेशे सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन करता था तो वह ब्राह्मण नहीं रह जाता था।

क्षत्रिय तथा वैश्य अध्ययन करने, यज्ञादि करने तथा दान करने के सामान्य कर्तव्यों को पूरा करने के अतिरिक्त कुछ विशेष कार्य भी करते थे। क्षत्रिय को सामरिक जीवन में रहना पड़ता था और वैश्य, कृषि, व्यापार, वाणिज्य तथा पशु पालन करते थे।

शूद्रों का प्रमुख कर्तव्य सेवा करना था। वे धर्मादेश तो सुन सकते थे परन्तु वे पवित्र ग्रन्थों को सुनने के योग्य नहीं थे। वे केवल इन ग्रन्थों का सार सुन सकते थे। परन्तु वे विवाह, गृह्य अग्नि में दैनिक भोजन पकाने तथा श्राद्ध की रीति से वंचित नहीं रखे गये थे। मनु ने शूद्र गुरु-शिष्यों तक के उल्लेख किये हैं। दास भी होते थे। इनकी सात श्रेणियों का उल्लेख किया गया है।

## स्त्रियाँ

स्त्रियाँ वेदों का अध्ययन तथा अपने धर्मादेशों की पूर्ति में मन्त्रों का उपयोग नहीं कर सकती थीं। वे केवल विवाह में मन्त्रों का उपयोग कर सकती थीं। वे आजीवन, क्रमशः पिता, पति एवं पुत्रों के संरक्षण में (अधीन) रहती थीं। वे स्त्रीधन के धन के अतिरिक्त अपनी कोई सम्पत्ति नहीं रख सकती थीं। स्त्री का मुख्य कर्तव्य पारिवारिक जीवन का प्रबन्ध करना था।

## आर्थिक जीवन

मनु ने शहरी तथा ग्राम्य जीवन, नगर, पुर (क़स्बा) तथा ग्रामों पर

अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। मकान मिट्टी, पक्की ईंट, पत्थर तथा लकड़ी के बनाए जाते थे। भवन-निर्माण की कला पूर्ण विकसित थी। उपनगरों में मंदिर बनवाए गए थे।

कृषि प्रमुख व्यवसाय था। बीजों के अशुद्ध होने पर दंड की व्यवस्था थी। रुई, जौ, गेहूँ, चावल, गन्ना तथा सब्जियों की खेती होती थी। कृषि सम्बन्धी औजारों में लकड़ी के हल, जुए तथा सिंचाई में चमड़े के बर्तन का प्रयोग होता था। शूद्र मजदूर से खेती करवाई जाती थी। उनको उपज का आधा भाग दिया जाता था। खेत की उर्वर-शक्ति के अनुसार राजा को कर के रूप में उपज का चतुर्थांश और द्वादशांश देना होता था। पशुओं में भैंस, गाय, भेड़, बकरे और बैल थे। दुग्धशाला का भी व्यवसाय होता था।

## कलाकौशल

जो लोग दस्तकारी के काम करते थे उनका सामाजिक स्तर शूद्रों से ऊँचा था। दस्तकारी में सुनार (हेमकार), लुहार (कर्मकार), रंगरेज, धोबी, तेली, दर्जी, जुलाहे, कुम्हार, चमड़े का काम करने वाले (चमार), धनुष-बाण बनाने वाले, मादक द्रव्य बनाने वाले तथा पक्की ईंट बनाने वाले थे।

व्यापार में मुद्रा तथा विनिमय दोनों प्रकार की अर्थव्यवस्था थी। सरकारें व्यापारियों के परामर्श से मूल्य निश्चित करती थीं। जमीन तथा पानी के मार्ग से व्यापार होता था। हाथी, केशर, रेशम, ऊन, मोती तथा अन्य जवाहरात आदि कई वस्तुओं के निर्यात-व्यापार पर राजकीय नियंत्रण था। व्यापार में चुंगी, आबकारी , आदि कर देने पड़ते थे। ब्याज पर ऋण में रुपया दिया जाता था पर सरकार इस बात पर कड़ी निगरानी रखती थी कि ऋण लेने वाले का सब कुछ हड़प न कर लिया जाय। ऋण लेने वाले को सुरक्षित रखा जाता था।

सोना, चाँदी तथा ताँबे की मुद्राएँ (सिक्के) प्रचलित थीं। सोना, चाँदी, ताँबा, कांसा, लोहा और जस्ते की अनेक खानें भी थीं। नौकरों को दैनिक मजदूरी दी जाती थी। संयुक्त परिवार की प्रथा अनवरत चली आ रही थी और उसको विशेषता दी जाती थी। पिता के जीवन में ही बँटवारा अमान्य था। सम्पत्ति की मिल्कियत पिता के पास थी किंतु उसके भिन्न-भिन्न पुत्रों के अधिकार तथा भाइयों के हिस्सों को मान्यता प्राप्त थी। उस समय उत्तरा-

धिकार की वही प्रथा प्रचलित थी जिसको बाद में 'मिताक्षर' व्यवस्था कहा गया। इस प्रकार पुत्र को पूर्वजों की सम्पत्ति में जन्म से अधिकार था। यह अधिकार उत्तराधिकार की 'दयाभाग' व्यवस्था में पुत्र को नहीं प्राप्त था। दत्तकपुत्र लेने (गोद लेने) की प्रथा को अधिक मान्यता नहीं प्राप्त थी। नियोग की प्रथा प्रचलित थी। निःसन्तान विधवा की सम्पत्ति राज्य की सम्पत्ति में सम्मिलित कर ली जाती थी। जिस पिता के पुत्र–पुत्री दोनों थे उसकी सम्पत्ति में पुत्री को भाग नहीं मिलता था। इस युग में बाल–विवाह प्रचलित व्यवस्था बन गया था तथा विधवा विवाह अप्रचलित होता जा रहा था। अंतर्जातीय विवाह की प्रथा नहीं थी। उच्च–वर्ग की स्त्रियाँ जब बाहर निकलती थीं परदा करती थीं। उन्हें घर पर ही शिक्षा दी जाती थी।

## शिक्षा

विद्यार्थी जीवन उपनयन संस्कार से प्राप्त होता था। ब्राह्मण का उपनयन संस्कार ८ वर्ष की आयु में, क्षत्रिय का ११ वर्ष की आयु में तथा वैश्य का १२ वर्ष की आयु में सम्पन्न होता था। छात्रों को अपने गुरु (शिक्षकों) के घर पर रहना पड़ता था जो उनको वस्त्र भोजन, आचार सम्बन्धी ब्रह्मचर्य पर आधारित सदाचार (अनुशासन) एक एक क्रम पर चलाता था और उनसे तपस्याएँ कराता था। शिक्षा का लक्ष्य बौद्धिक तथा अध्यात्मिक विकास दोनों ही थे। तीन वेद (श्रुति), चुने हुए वैदिक मंत्र तथा श्लोक तथा अथर्ववेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपानिषद् अध्ययन के विषय थे। इनके अतिरिक्त छात्रों को दर्शन, स्मृतियों, इतिहास और पुराण, धर्मसूत्र तथा वर्त या लौकिक विषयों का भी अध्ययन करना पड़ता था। इतना अध्ययन करने के पश्चात् छात्र वैदिक, शास्त्रिन्, ऋत्विज तथा ब्रह्मवादी बनते थे।

विद्यालय की अवधि विभन्न प्रकार की, ९ से लेकर ३६ वर्ष तक की थी। कोई भी छात्र व्रत न पूरा करने पर भी अध्ययन समाप्त कर लेने के बाद विद्यालय से अलग हो सकता था। कोई विद्यार्थी अध्ययन समाप्त किये बिना भी व्रत पूरा कर लेने पर ही विद्यालय से अलग हो सकता था। जो अध्ययन और वृत दोनों पूरा करके छात्रावस्था से अलग होते थे उनको विद्या–व्रत–स्नातक कहा जाता था। जो केवल अध्ययन समाप्त करके विद्यालय से अलग होते थे उनको विद्या–स्नातक कहा जाता था और जो शपथ पूरा करके ही विद्यालय छोड़ देते थे उनको व्रत स्नातक कहा जाता था। जो आजीवन विद्यार्थी रहते थे उन्हें नैष्ठिक कहा जाता था। विद्यालय के वर्ष में दो सत्र

होते थे। प्रत्येक सत्र सार्वजनिक समारोह से प्रारम्भ और समाप्त किया जाता था। पहला सत्र जुलाई में प्रारम्भ होकर दिसम्बर के अन्त में समाप्त होता था। वर्ष भर में विभिन्न प्रकार की छुट्टियाँ होती थीं। दो प्रतिपदा, दो अष्टमी, दो चतुर्दशी, अमावस्या तथा पूर्णिमा की छुट्टियाँ हर महीने में होती थीं। प्रत्येक ऋतु का अंतिम दिन भी छुट्टी का दिन रहता था। गुरु (अध्यापक) दो प्रकार के होते थे। एक उपाध्यापक जो व्यवसाय के रूप में वेद और वेदांग का कुछ भाग पढ़ाते थे। और दूसरे आचार्य जो शिष्यों को निःशुल्क पूरे वेद एवं उपनिषद् पढ़ाते थे। शिक्षाविशेषक भी होते थे जिनको अध्यापन-विधिज्ञ कहा जाता था।

## धर्म और दर्शन

स्मृतियों ने हमें आधुनिक (परम्परागत) हिन्दू धर्म, विभिन्न प्रकार के व्रत, परम्परागत देवी-देवताओं की पूजा तथा मृतकों को पिंडदान आदि दिए हैं। यज्ञ होते थे और माँस खाने पर प्रतिबन्ध नहीं था। १६ संस्कारों को नियमित रूप में सम्पन्न किया जाता था। इस युग में 'श्राद्ध' की विशेषता थी और पूर्वजों को न केवल वर्ष में एक बार अपितु प्रत्येक महीने में भेंट चढ़ाया जाता था।

धर्म, इतिहास तथा समाजशास्त्र के दृष्टिकोण से पुराण बहुत महत्व-पूर्ण हैं। इनके द्वारा हमें वेदों की नीति, दर्शन एवं धर्म के सच्चे महत्व का ज्ञान होता है। पुराणों में प्रायः प्रयुक्त प्रतीकवादों को समझने के लिए उनको ध्यान से पढ़ने की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ अवतारों की कथा को ही ले लीजिए। अवतार इस सृष्टि के उलट-पलट के गतिक्रमों के स्पष्ट प्रतीक हैं। प्रथम अवतार मत्स्य का है जो उस समय हुआ था जबकि इस संसार में रेंगने वाले जीवों का जन्म तक नहीं हुआ था और मछ-लियाँ जीवन और प्राणी की प्रथम प्रमाण थीं। उसके उपरान्त कच्छ और उसके बाद नरसिंह (अर्ध मनुष्य), इसके पश्चात् वामन (नाटा मनुष्य), और इसके बाद प्रारंभिक मनुष्य का युग आता है। तत्पश्चात् वह युग आता है जबकि मनुष्य न्यूनाधिक पूर्ण हो जाता है और 'ईश्वर' के समान होकर उसी में निहित हो जाता है। हमारे सम्पूर्ण दर्शन की आधार-शिला जीवन के सभी विभागों में उलट-पलट (परिवर्तन) के सिद्धांतों की स्वीकृति है और पुराणों ने अवतारों में इसी का स्पष्ट चित्रण किया है। यह सच है कि पुराणों में कई बातें ऐसी हैं जो उनके जन्मकाल के समय प्रचलित थीं

और वे गूढ़ और रहस्यपूर्ण भी हैं परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हम समस्त पुराणों की भर्त्सना करने लगें।

पुराणों के लेखक व्यास हैं और सूत इसके सुनाने वाले है। वैदिक साहित्य में उल्लिखित सत्यों को जनप्रिय बनाने के उद्देश्य से पुराणों को लिखा गया था। और इसीलिए पुराणों में व्यक्तियों के जीवन पर वे ही सत्य चित्रित किए गए हैं।

पुराण का अर्थ है जो पुराने युग से चला आ रहा हो या जो प्राचीन होते हुए भी सदैव नया रहता हो।

धर्मसूत्र, महाभारत तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पुराणों के उदाहरण हैं। ये भिन्न-भिन्न युगों के अनेक मस्तिष्कों की उपज हैं अर्थात् नाना प्रकार के युगों के कई लेखकों द्वारा ये लिखे गए हैं और संभवतः व्यास ने इनका केवल सम्पादन किया है पुराणों के निम्नलिखित पाँच विभाग हैं:—

प्रारंभिक सृष्टि, मध्यकालीन सृष्टि, देवताओं व प्रजापतियों की बंशावली, विभिन्न मनुओं के युग तथा राजपरिवारों के इतिहास।

इस संसार की रचना उस प्रकृति से हुई है जो ईश्वर के नियंत्रण में है। सृष्टि की रचना जिस समय प्रारंभिक चरण में चल रही थी उस समय को पुराण में प्रारंभिक सृष्टि माना गया है। प्रकृति के बाद पाँच तत्व आते हैं और इनके द्वारा ज्ञान, मस्तिष्क व कार्य के इन्द्रियों तथा पंचभूतों एवं प्राण का जन्म होता है। जब ये सभी एक में मिल गये तब उसी समय सृष्टि का जन्म हुआ।

तदुपरान्त पुराणों में कृत (सत्य), त्रेता, द्वापर, कलि आदि युगों के रूप में मानव परिवार के उलट-पलट के क्रम का वर्णन किया जाता है। कलि-युग का समय ४३२,००० वर्ष तक का है। सत्ययुग का समय इस से चौगुना, त्रेता का तिगुना एवं द्वापर का दुगना है। जब सृष्टि का अन्त होता है तब सभी तत्व (रूपक) प्रकृति में अन्तर्हित हो जाते हैं और प्रकृति उस ईश्वर में वापस चली जाती है जो शून्य है।

अधिकतः विष्णु, शिव, ब्रह्म आदि एक ही परमेश्वर से संबंधित १८ प्रमुख पुराण हैं, परन्तु इनमें प्रतिद्वन्द्विता नहीं है क्योंकि पद्मपुराण में कहा गया है कि "ब्रह्मा, बिष्णु, महेश्वर ३ रूपों में होते हुए भी एक ही हैं और

इन तीनों में नामों के अतिरिक्त अन्य कोई भेद या अन्तर नहीं है।" पद्म; विष्णु, भागवत, नारदीय, गरुण, वराह, ब्रह्म, ब्रह्मांड, ब्राह्म (वैव्रत), मार्कन्डेय, भविष्य, वामन, शिव, लिंग, स्कन्द, अग्नि, मत्स्य एवं कूर्म आदि १८ पुराण हैं।

बारह पुराणों में भारत के राजपरिवारों के विवरण दिये गये हैं। परन्तु नामों एवं घटनाओं में पूर्ण सामंजस्य नहीं है।

महाभारत के पहले की घटनाओं के इतिहासों के पुरातत्व सम्बन्धी कोई भी प्रमाण हमारे सामने नहीं हैं।

'पुराण' में इस विराट युद्ध के बाद तीन महान् राजपरिवारों का उल्लेख किया गया है। इन राजपरिवारों के नाम हैं पुरु, इक्ष्वाकु तथा मगध। विभिन्न पुराणों में एतद्विषयक विवरण देखे जा सकते हैं उदाहरणार्थ विष्णु पुराण के चौथे भाग में सूर्य एवं चन्द्र वंशी राजाओं की वंशाबलियों का वर्णन किया गया है और ये कलियुग तक लाए गए हैं। इन्हीं में मगध एवं आन्ध्र राजाओं को भी शामिल कर लिया गया है।

पुराणों का नैतिक उद्देश्य विष्णु पुराण में निम्नलिखित दिया गया है:—

"जिसने इक्ष्वाकु, जान्हु, माँधातृ, सागर, रघु, ययाति, नहष आदि ऐसे सूर्य एवं चन्द्रवंशी राजाओं के परिवारों की कथाएँ सुनी हैं जो सब नष्ट हो गये हैं और जिसने अपार शक्तिशाली, धनवान एवं साहसी राजाओं की कथाएँ सुनी हैं उसे ज्ञान प्राप्त हो गया है और उसने पत्नी, सन्तान, भूमि, धन, सम्पत्ति आदि किसी को भी अपना कहना छोड़ दिया है।"

विभिन्न पुराणों में जो भिन्नताएँ हैं उनमें स्थानीय प्रभाव दिखाई देता है। उदाहरणार्थ ब्रह्म पुराण में उड़ीसा की एक मुद्रा (मोहर) मिलती है। पुराणों में भारत का भूगोल अत्यधिक संक्षिप्त रूप में दिया गया है। महासागर के उत्तर और बर्फीले पर्वतों के दक्षिण में स्थित प्रदेश को भारतवर्ष कहा गया है। कहा जाता है कि मिश्र की नील नदी के स्रोत का पता लगाने में पुराणों से बहुत सहायता ली गई है।

पुराणों के तथ्यों के आधार पर पर्जिटर ने महाभारत की तारीख निश्चित की है। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन का प्रारम्भ ३२२ वर्ष (ई० पू०) से माना गया है। इससे यह निश्चित किया गया है कि चन्द्रगुप्त मौर्य तथा नौ नन्दों के बीच १०० वर्ष का समय व्यतीत हुआ। इसी गणना के अनुसार प्रथम

नन्द महापद्म ४०२ वर्ष (ई० पू०) में राजा हुआ। इस नन्द और महाभारत के समय के बीच में संभवतः २४ ऐक्षाकु, २७ पाँचाल, २४ कासि, २८ हैहय, ३२ कलिंग, २५ अस्मक, २६ कुरु, २८ मैथिल, २३ सूरसेनी, तथा २० विताहोत्र अर्थात् कुल २५७ राजाओं ने शासन किया। यदि हम इनमें से प्रत्येक राजा का औसत शासनकाल १८ वर्ष का मान लें तो इन का शासन काल ४६८ वर्ष का होता है। यदि इसमें इन राजवंशों के पहले के ३ और राजाओं का शासनकाल जोड़ दिया जाय तो महाभारत युद्ध का समय ९५० वर्ष (ई० पू०) निकलता है। यह तारीख औसत गणना पर आधारित है। पुराणों के ही तथ्यों के आधार पर पर्जिटर ने यह तर्क किया है कि आर्य लोग दोआब में रहते थे और वहाँ से वे पंजाब और पश्चिम की ओर गए। राधा कुमुद मुकर्जी ने महाभारत की तारीख १४०० वर्ष (ई० पू०) निश्चित की है और उन्होंने परीक्षित (प्रथम), सतपथ तथा ऐतरेय ब्राह्मण का समय लगभग २००० वर्ष (ई० पू०) सिद्ध किया है। इससे ऋग्वेद का काल और आगे बढ़ जाता है और यह काल सिन्ध घाटी की सभ्यता से सम्बन्धित माना जा सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पुराण हिन्दुओं के लेखों के महत्वपूर्ण अंग हैं और इनमें हमारे इतिहास व भूगोल से संबंधित बहुमूल्य तथ्य दिये गये हैं। इन्होंने हजारों वर्ष तक हमारे सार्वजनिक जीवन, धर्म तथा भूमि की दशा को व्यापक रूप में प्रभावित किया है। और हमें वेदों का सत्य समझने के लिए इनका पूरा उपयोग करना चाहिए।

## गीता

गीता न केवल भारतीय साहित्य अपितु विश्व साहित्य के सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थों में है। संभवतः बाइबिल के बाद इसी का सबसे अधिक अनुवाद हुआ है। इसमें उपनिषदों के दर्शनों का समन्वय किया गया है। आलोचकों ने इस ग्रन्थ में अपने अपने सिद्धान्तों को पाया है। कुछ लोग इसे बिना पुरष्कार की इच्छा के कर्म का प्रतिपादक मानते हैं। कुछ लोग इसे भक्ति का मार्ग और कुछ इसे वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति के बाद सांसारिकता का त्याग का प्रतिपादक मानते हैं। यथार्थतः गीता ज्ञान, कर्म, धर्म या भक्ति का समन्वय है।

इसका मूल श्री कृष्ण (ईश्वर के अवतार) का वह उपदेश माना जाता है जिसे उन्होंने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन को उस समय दिया था जबकि

उसने दयार्द्र होकर अपने सम्बन्धियों–कौरवों–से लड़ने से इन्कार कर दिया था। श्रीकृष्ण के उपदेश से अर्जुन को अपनी मूर्खता का ज्ञान हुआ और उसने दुर्योधन और उसकी सेनाओं से युद्ध प्रारम्भ कर दिया।

गीता अहिंसा का उपदेश नहीं देता। वह हमें यह शिक्षा देता है कि जैसी परिस्थिति हो उसके अनुसार हिंसा या अहिंसा से बुराई का मुकाबला करना चाहिए किन्तु सत्य के हितार्थ युद्ध करने वालों को अपनी इच्छाओं से मुक्त और स्वार्थरहित होना चाहिए। उनमें सत्य के लिए होने वाले युद्ध से अपने वैयक्तिक लाभ की आकाँक्षा न होनी चाहिए।

गीता में ईश्वरी अवतार के जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है वह भी बहुत महत्वपूर्ण है। साधारणतः इसका यह अर्थ समझा जाता है कि जब–जब इस पृथ्वी पर धर्म का ह्रास और अधर्म की वृद्धि होती है तब–तब ईश्वर प्रकट होता है। किन्तु अवतार मनुष्य को इस बात का भी स्मरण कराता है कि उसमें स्वयं दैवत्व है और वह मानव रूप में प्रकट ईश्वर का स्तर प्राप्त कर सकता है।

गीता योग का सन्देश है। यहाँ योग का अर्थ हठ योग अथवा पातञ्जलि के उस योग से नहीं है जिसमें कुछ तपस्याएँ और नैतिक धर्म दिए गए हैं। इस योग का अर्थ ईश्वर में मिल जाना है। कर्म, ज्ञान और भक्ति नामक योग के तरीके पर चलने से ईश्वर में मिल जाया जा सकता है। ईश्वर में मिलने का मार्ग इस विश्व के सभी प्राणिग्रों में ऐक्य है। इसके द्वारा अध्यात्मिक व्यक्ति सभी प्राणियों में उसी आत्मा का दर्शन करता है और उनको अपना बन्धु मानता है। इस प्रकार आधुनिक संसार में, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध और अराजकता की स्थिति चल रही है, गीता के उपदेशों को प्रमुख भाग लेना है। केवल अध्यात्मिक आधार पर ही सच्ची विश्व–एकता हो सकती है। कोई भी अन्य आधार वाह्य आधार होगा और उससे गलतियाँ होंगीं कारण वाह्य तथ्य और प्रायः लक्ष्य गलत मार्ग पर ले जाने वाले होते हैं। केवल उसी समय सच्ची विश्व–एकता हो सकती है जब कि हम आत्मिक एकता का अनुभव करलें अथवा हमारी आत्माएँ एक हो जायें। यही गीता का सबसे प्रमुख उपदेश है।

गीता का दूसरा प्रमुख सिद्धांत स्वभाव के सिद्धांत से सम्बन्धित स्वधर्म का सिद्धान्त है।

स्वधर्म का अर्थ यह है कि प्रत्येक मनुष्य के कुछ स्वाभाविक गुण और प्रवृत्तियाँ होती हैं जिनको यदि बुद्धिमत्ता से विकसित किया जाय तो वह ईश्वर की इस सृष्टि में अपना कार्य योग्यतापूर्वक कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति का उसके स्वभाव पर आधारित अपना स्वधर्म होता है। और यदि वह दूसरे मनुष्य की प्रकृति के नियम पर चलता है तो वह भारी गलती करता है और प्रकृति उससे इसका बदला लेती है। एक क्षत्रिय का कर्तव्य युद्ध करना, दुर्बलों की रक्षा करना और शासन करना है। यदि वह ब्राह्मण के कार्य करता है तो वह अपने स्वधर्म का उल्लंघन करता है। गीता में लिखा है कि "अपने (स्व) धर्म में ही मरना श्रेयष्कर है कारण दूसरे का धर्म मृत्यु का द्योतक है।"

जहाँ तक कर्म का सम्बन्ध है गीता ने निःस्वार्थ सेवा पर सबसे अधिक जोर दिया है। किसी कार्य के परिणाम के विषय में सोचे बिना कार्य करना चाहिये। कर्म ही मनुष्य को ईश्वर तक ले जाता है। किसी स्थिति में ऐसे कार्य भी होते हैं जिनसे यह दिखाई दे कि मनुष्य ईश्वर के हाथ का अस्त्र हो गया हो और अंततः मनुष्य और ईश्वर एक से हो जाते हैं।

ईश्वर का ज्ञान, ईश्वर के साथ मनुष्य के सम्बन्ध का ज्ञान, तथा सृष्टि के साथ मनुष्य के सम्बन्ध का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है।

भक्ति दिन में किसी समय किया जाने वाला साधारण पूजा-पाठ मात्र नहीं है। यह जीवन की प्रत्येक गतिविधि के साथ अपना काम करती रहती है। ईश्वर भक्त के प्रेम का उद्देश्य मात्र हो जाता है, वह उसी में रहता है और ईश्वर में ही आनन्द पाता है। ऐसे व्यक्ति (भक्त) को अपनी इच्छा तथा भावना की दासता से पूर्णतः मुक्त होना चाहिए। उसको अपनी इच्छा या स्वार्थ की कोई चिन्ता न होनी चाहिए। उसको इसलिए अपना काम करना चाहिए क्योंकि ईश्वर भी बिना अपने को स्पर्श किए और पंक्ति बद्ध किए अपना काम कर रहा है।

श्री अरविन्द ने गीता के उपदेशों को इस प्रकार संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है—"मानवीय कर्म की कठिनाई यह है कि मनुष्य का स्वभाव एंव आत्मा दुःख-जाल, अज्ञानता का कारागार, इच्छाओं की शृंखला आदि अनेक बन्धनों के आधीन है और सीमित है।" यह विचार "एसेज आफ दि गीता" के द्वितीय संस्करण (वाल्यूम) में प्रकट किया गया है।

आत्मा को "सर्वप्रथम उक्त बातों का परित्याग करना चाहिए तथा वाह्यता को भी अपने में से निकाल देना चाहिए ।" "इसको आन्तरिक निष्क्रियता पर पहुँचना आवश्यक है।" अर्थात् हमें अपनी "आत्मा को ऐसा बनाना चाहिए जिसमें वासनाएँ न हो और जिसका किसी भी वस्तु से लगाव न हो। आत्मा को जितेन्द्रिय होना चाहिए ।"

द्वतीयतः हमको निम्नतर मानसिक, जीवन सम्बन्धी एवं शारीरिक अस्तित्व को हटाकर दैवत्व प्राप्त कर लेना चाहिए। "और इस प्रकार जो मनुष्य सब साँसारिक वस्तुओं का परित्याग कर देता है उसी को गीता में सच्चा सन्यासी कहा गया है।"

किन्तु कार्य में रुकावट न होनी चाहिए । ईश्वर की पूजा–आराधना के रूप में कार्य अवश्य करना चाहिये। अंततः मनुष्य अखंड ज्ञान–मनुष्य के अन्तःपट में स्थित गुप्त ईश्वर का ज्ञान–प्राप्त करता है । ईश्वर उसकी पूजा का 'प्रेमी' व "प्रेमिका" हो जाता है।

"जो कुछ भी हम करते हैं वह सबके हृदय में स्थित ईश्वर के लिए और उसकी इच्छा की पूर्ति के निमित्त किया जाता है। समस्त कर्म सब प्राणियों के कल्याणार्थ, विश्व–उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त, पुरुषोतम के हेतु और वास्तव में "उसी" के द्वारा उसकी जगत्व्यापी शक्ति से किये जाते हैं ।"

गीता में यह घोषित किया गया है कि सभी मनुष्य–चाहे पापी से पापी और नीच से नीच हों—यदि चाहे तो इस योग के पथ में प्रविष्ट हो सकते हैं। और यदि सच्चा आत्मसमर्पण है और ईश्वर में पूर्ण विश्वास है तो इस पथ में सफलता निश्चित है।

## अष्टम अध्याय

# प्राचीन भारतीय संस्कृति का स्वर्णयुग
# (Classical Age)

ऋग्वेद तथा इसके बाद की सभ्यताओं ने भारतीय संस्कृति की नींव डाली थी। मौर्यकाल तथा इसके बाद के युगों में ऊपरी ढाँचे का निर्माण हुआ। इस अवधि में भारत की प्रतिभा कला की समस्त शाखाओं तथा जीवन के सभी क्षेत्रों में खूब विकसित एवं पल्लवित हुयी। इस काल को भारत का "उच्चतम काल" (Classical Age of India) कहा जाता है।

एक प्रमुख विशेषता यह है कि इन कालों में जो भारतीय प्रतिभा प्रकट हुई है वह केवल अध्यात्मिकता या सन्यास (जीवन से पार्थक्य) तक ही सीमित नहीं है अथवा वह जीवन की समस्याओं के प्रति उदासीन नहीं है। जब सब कुछ 'ब्रह्म' है, जीवन भी ईश्वर का है। इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती और इस पर समुचित ध्यान दिया ही जाना चाहिए। दूसरे शब्दो में अध्यात्मिकता एवं जीवन में मेल किया गया और विचारों की व्यापकता को व्यवहार की व्यापकता में परिणित किया गया।

सर्व प्रथम हम धर्म, दर्शन, सामाजिक जीवन, कला तथा आर्थिक संगठन के रूप में मौर्यकालीन संस्कृति का अध्ययन करेंगे।

मौर्य साम्राज्य के दिनों में धर्म का जो स्तर था उसका वर्णन करने के लिए हमें ग्रीक तथा लैटिन लेखकों, लेखों तथा मुद्राओं, पातञ्जलि के महाभाष्य तथा बाद के लेखकों के प्रमाण पर विश्वास करना होगा। इस युग तक में वैदिक देवताओं की पूजा चल रही थी। उदाहरणार्थ "जीयस ओम्ब्रियस" नामक वृष्टि-देवता की पूजा प्रचलित थी जो सम्भवतः इन्द्र या पर्जन्य के प्रतिनिधि थे। शिव, विष्णु ब्रह्मा, श्रीकृष्ण, स्कन्द एवं विसाखा नामक वीरगाथा कालीन देवताओं की भी पूजा प्रचलित थी। यहाँ तक कि अशोक ने भी अपने को देवानाम्पिय "देवताओं के प्रिय" कहकर इसी परम्परा का निर्वाह किया। यज्ञ को वैदिक प्रथा का भी अत्यधिक प्रचलन था। राजा लोग यज्ञादि का आयोजन करने व कराने में प्रमुख भाग लेते थे। अराजकीय संस्थाओं तथा व्यक्ति भी ऐसे समारोहों

में सम्मिलित होते थे। कहा जाता है कि इन अवसरों पर खुलकर मद्यपान होता था। ऐसे अवसरों पर पशुओं की बलि दिये जाने की जो प्रथा प्रचलित थी अशोक ने उसको समाप्त करने का प्रयास किया। दूसरी ओर वैष्णव तथा अन्य सुधारकों ने यज्ञ के पीछे जो आध्यात्मिक विचार-धाराएँ थीं उनका अन्वेषण करने का प्रयत्न किया। यही विचारधाराएँ वैदिक काल में प्रचलित थीं। क्योंकि वैदिक काल में यज्ञ एक प्रतीक अर्थात देवताओं को दिया जाने वाला अर्घ्य माना जाता था। यज्ञ के फल का उपयोग करने वाले के रूप में मनुष्य की आत्मा के साथ यज्ञ की वैदिक विचारधारा से उस मार्ग का संकेत मिलता है जिस पर चलकर आत्म-विजय की प्राप्ति होती है। मनुष्य जो करता है, जो पाता है और उसके पास जो कुछ भी है उन सब को उसे ईश्वर की शक्तियों तथा जागृति की शक्तियों (देवताओं) को अवश्य अर्पित करना चाहिए। ये शक्तियाँ मनुष्यों को अपना भाई समझती हैं, वे उनकी मदद करना चाहती हैं और उनको शक्तिशाली बनाना चाहती है। इसी प्रकार आर्य लोग अग्नि की जो पूजा करते थे वही आगे चलकर यज्ञ के रूप में हो गया। यह अग्नि-पूजा भी प्रतीक थी। यह तृष्णारहित उस इच्छा-शक्ति का प्रतीक है जो मनुष्य की समस्त इच्छाओं को मारती है, उसकी अज्ञानता को नष्ट करती है और उसके आत्मा को स्वतन्त्र एवं पवित्र बनाती है। उसे अमरत्व की स्थिति प्राप्त कराती है। किन्तु आजकल यज्ञ अर्थहीन कर्मकाण्ड मात्र रह गया है और वैदिक काल में इसका जो महत्व था वह खो गया है।

इसी काल में अशोक के सत्प्रयत्नों से बौद्ध धर्म एक महान विश्व-धर्म हो गया। भारत में भी, विशेषत: पूर्वी भागों में, इसका बहुत सम्मान हो गया। बौद्ध धर्म के उपदेश स्तम्भों एवं शिलाओं में खुदाए गए। भारत के समस्त भागों में लेख पाये जाते हैं। ये लेख मानवीय दस्तावेज हैं जिनमें आकर्षण कम है और जिनका नैतिक महत्व बहुत ऊँचा है। ये लेख सम्राट के गुणों—उसकी सच्चाई, दयालुता, नम्रता, सहिष्णुता तथा शासकीय योग्यताओं—के संग्रह हैं। सम्राट ने इन्हीं गुणों को अपनी प्रजा में फैलाना चाहा। उसके शब्दों के निम्न उद्धरण प्रस्तुत किए जाते हैं :—

"माता-पिता एवं अन्य गुरुजनों के आदेशों का पालन करना चाहिए, सत्य बोलना चाहिए, पशुओं के प्रति दया करनी चाहिए, इन्हीं नैतिक गुणों को व्यवहार में लाना चाहिए।"

"इसी प्रकार शिष्यों को गुरुओं का आदर करना चाहिए और बन्धु-बान्धवों के प्रति उचित व्यवहार करना चाहिए ।"

आगे चलकर यह भी घोषणा की गई है कि "नैतिकता के प्रति अत्यधिक प्रेम, ध्यानपूर्वक अध्ययन, आज्ञा पालन, पाप एवं महान शक्ति से भय के बिना इस जगत तथा दूसरे जगत में सुख को क़ायम रखना कठिन है ।" अपनी जीवन लीला के अन्तिम चरण में अशोक ने तपस्या, समाधि आदि को नैतिक नियमों से अधिक महत्व दिया ।

यहाँ यह ध्यान में रखने की बात है कि अशोक सहिष्णुता की परम्परागत भारतीय भावना के प्रति सच्चा था । वह पृथकतावादी नहीं था और कभी भी प्रजा पर अपने धर्म को लादने का प्रयत्न नहीं करता था । उस समय भारत में जैन, वैष्णव, भागवत आदि अन्य धर्म भी फैले हुए थे । भागवत धर्म में देवताओं के देवता वासुदेव को सबसे बड़ा माना जाता था ।

## सामाजिक जीवन

इस काल में हिन्दू जीवन के दो मुख्य सिद्धान्त वर्ण (जाति) तथा आश्रम में दृढ़ता आई । अन्तर्जातीय विवाह बुरा माना जाता था और अपने परिवार की परम्परा के विपरीत व्यवसाय करना भी बुरा माना जाता था । दार्शनिक लोग सादगी से रहते थे और गम्भीर प्रवचन-चिन्तन वाद विवाद आदि किया करते थे । पर्यटक सन्यासियों की भी व्यवस्था थी और उनके संगठन थे । कई धर्मों के जन्म, जटिल रीतियों के प्रचलन, विदेशियों के आगमन तथा सामाजिक जीवन की उन्नति के कारण जाति प्रथा में कठोरता आ गई । कौटिल्य अर्थशास्त्र में कृषि, पशुपालन तथा व्यापार को वैश्यों एवं शूद्रों का सामान्य व्यवसाय माना गया है । ग्रीक लेखकों के अनुसार पशुपालक, चरवाहे, व्यापारी, चिकित्सक, लकड़हारे, शिकारी, सिपाही, ओवरसियर तथा परिषद्-सदस्य आदि नए नए वर्ग बन गए थे ।

इस काल में भी स्त्रियों का सम्मान एवं आदर होता था । कुछ स्त्रियां दर्शन का मार्ग ग्रहण कर लेती थीं और ब्रह्मचर्य जीवन अपना लेती थीं । परन्तु विवाहित स्त्रियाँ अपने पति के पवित्र विद्या के ज्ञान में हिस्सा नहीं बँटाती थीं । बहुविवाह प्रचलित थे । स्त्रियाँ अंगरक्षकों का कार्य भी करती थीं । एक स्त्री ने एक राजा को शराब के नशे की हालत में मार डाला था । इसलिए उस राजा के उत्तराधिकारी ने उसे अपनी पत्नी बनाकर

उसे पुरस्कृत किया। स्त्रियाँ पूजा–पाठ, उत्सव-समारोह आदि में खुलकर भाग लेती थीं। स्त्रियों ने कई राजाओं की अल्पवयस्कता की अवस्था में राज्य–शासन भी किया है।

दास–प्रथा स्थिर प्रथा थी। विधि–ग्रन्थों तथा लेखों में ी इसको मान्यता दी गई है। अशोक ने दासों और मज़दूरों में अन्तर माना है और इन लोगों के प्रति दया का व्यवहार किए जाने की सिफ़ारिश की। इस काल में स्त्रियों के क्रय–विक्रय की भी घटनाएँ हुई।

देश की प्रजा अल्पव्ययी थी और लोग सदाचारी थे। भारतीय नम्र, भद्र और सच्चे थे। चोरियाँ बहुत कम होती थीं। केवल यज्ञों में लोग मद्यपान करते थे। साधारणतः उस समय चावल लोगों का आहार था। कानून सादे थे और मुक़दमे बहुत कम होते थे। मकानों और सम्पत्ति की रक्षा की बहुत अधिक व्यवस्था नहीं की जाती थी।

अनेकानेक उत्सव और समाज (सभाएँ) हुआ करते थे। इन उत्सवों पर राजा लोग उदारतापूर्वक दान दिया करते थे। इन उत्सवों में नृत्य गान आदि के अलावा दिखावटी लड़ाइयाँ भी होती थीं। जिनमें मनुष्यों तथा पशुओं दोनों के द्वन्द युद्ध होते थे। रथों की दौड़ें होती थीं जिनमें बैल व घोड़े जुते होते थे। नाटक भी होते थे। पातञ्जलि ने भी नाटकों का उल्लेख किया है। जुआ (पाँसा) भी खेला जाता था। शतरंज जैसा एक खेल भी प्रचलित था। इस प्रकार जीवन आनन्दमय था। देवी–देवताओं के प्रति अपने कर्तव्य को बिना भुलाए लोग सांसारिक आनन्द का गहरा उपभोग करते थे। जीवन समन्वयात्मक था जिसमें भौतिकता और धर्म दोनों साथ २ चलते थे।

## आर्थिक दशा

भौतिक जीवन की स्थितियों के प्रबन्ध एवं अध्ययन से सम्बन्धित 'वर्त्त' नामक एक विज्ञान का उल्लेख पाया जाता है। मनु की परम्परा के अनुसार ब्राह्मणवाद का यह मत है कि 'वर्त्त' दण्डनीति (राजनीति) तथा त्रयी अर्थात् तीन वेद ही ऐसे तीन विज्ञान हैं जो मानवीय ज्ञान को विकसित करते हैं। कौटिल्य का कथन है कि 'अर्थ' मनुष्य का 'वृत्ति' है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ है कि यह मानवीय कार्यों का सर्वस्व है। इन दोनों में निकट सम्पर्क इस बात से है कि अर्थ साध्य से तथा वर्त्त

साधन से सम्बन्धित है। पुराणों में मनु को पृथु, न केवल यज्ञ कराने वाला वरन् अग्नि लाने वाला प्रोमेथियस, एवं कृषि का आविष्कारक कहा गया है। अस्तु, भारत ने आर्थिक जीवन की उपेक्षा नहीं की वरन् उसका उचित सम्मान किया और उसे उचित महत्व दिया है। वैश्य मजदूरों के शासक (प्रधान) थे। कठिन एवं दु:साध्य कार्य शूद्रों पर छोड़ दिये गए थे। उद्योगों में रुई का उद्योग सबसे अधिक प्रमुख था। इससे पूर्व हेरोडोटस ने 'ज़र्जिस' के भारतीय सैनिकों द्वारा पहने जाने वाले रुई के वस्त्रों का उल्लेख किया है। एतद्विषयक और कई स्थान पर भी उल्लेख किए गए हैं। सुन्दर कालीन बनते थे, जरी-बूटी तथा फूल कढ़ाई के काम होते थे। मलमल और रेशम का भी उत्पादन बहुत अधिक होता था।

काँसा, ताँबा, टीन, जस्ता आदि धातुओं के सामान भी बनाए जाते थे। जवाहरात के भी काम होते थे। रथ, शस्त्रास्त्र तथा चार पहिए की गाड़ियाँ (बग्घी) भी बनती थीं। लकड़ी का काम बहुत ही अच्छे और सुन्दर ढंग का होता था क्योंकि आम तौर पर मकान, प्रासाद, स्तूप, नाव आदि लकड़ी के ही बनते थे।

व्यापार बहुत संक्षिप्त (सीमित) था। तैयार किए गए पदार्थों की बिक्री, या विनिमय, होती थी नगरों में सड़कों से सम्पर्क था। इन सड़कों के बीच-बीच में कुएं थे। महत्वपूर्ण मार्गों पर व्यावसायिक केन्द्र बन गए थे। बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में यह कहा गया है कि "पाटलिपुत्र एक वृहत् शाही मार्ग के द्वारा गाँधार से सम्बन्धित था। वैक्ट्रिया और काश्मीर की वस्तुएँ लेकर आने वाले काफिलों को मध्य देश में, सिन्ध घाटी से बाहर आते ही, मथुरा सबसे पहला बड़ा शहर मिलता था पाटलिपुत्र से "साम्राज्य" की सीमाओं की ओर तीन बड़ी सड़कें गई थीं। कौसाम्बी-उज्जयिनी होकर दक्षिण-पश्चिमी सीमा, वैसाली-श्रावस्ती से होकर उत्तरी सीमा (नैपाल में) और उत्तर-पश्चिम तक ये सड़कें गई थीं। कौटिल्य के अनुसार सड़क-निर्माण राजाओं का मुख्य कर्तव्य था।

जल मार्गों का भी अत्यधिक उपयोग होता था। हम भारतीय यह भूल गये हैं कि हमारा देश अतीत की सबसे बड़ी सामुद्रिक तथा उपनिवेशी शक्तियों में था। बंगाल के मुख्य बन्दरगाह ताम्रलिप्ति से ही नहीं बल्कि बनारस और पटना से भी लंका तक जहाज जाते थे। भारुकच्छ

(भड़ोंच) बैबीलोन तथा सुवर्ण भूमि (निचला बर्मा) से सम्बन्धित था। लाल सागर के द्वारा मिस्र एवं पूर्वी अफ्रीका के निवासियों से भी सम्पर्क स्थापित हो गया था।

चीन तथा भारत में भी जहाजी सम्पर्क था और इस मार्ग के बीच व्यापारिक केन्द्र एवं उपनिवेश कायम थे। रोम साम्राज्य तथा भारत के बीच, विशेषतः मौर्यकाल के बाद, बहुत व्यापार होता था। मध्य एशिया से भारतीय व्यापार उस पर्वतीय मार्ग से सम्बन्धित था जो काबुल से ओक्सस (बलख के पूर्व) की घाटी तक गया हुआ था। यहाँ इस सड़क से पश्चिम से पूर्व को जाने वाली वह सड़क आकर मिली थी जो हिन्दूकुश के उत्तर से गुजरती थी, पामीर को पार करती थी और उत्तरी तारिम से होकर चीनी तुर्किस्तान तथा यारकन्द को गई थी।

बौद्ध धर्म इन्ही व्यापारिक मार्गों के द्वारा एशिया के भिन्न-भिन्न भागों में गया। इन मार्गों से होने वाले व्यापार पर लगे हुए चुंगी और करों के द्वारा सरकारों को भारी आय तथा लाभ होता था। वस्तुओं के नाप, तौल तथा किस्मों पर बहुत अधिक ध्यान दिया जाता था। जवाहरात मसाला, रेशम, रुई, सोना, चाँदी, मद्य, सुन्दरी स्त्रियों, गाने वाले लड़कों आदि के व्यापार होते थे। मुद्रा या विनिमय के माध्यम सोना तथा चाँदी के सिक्के थे। ताँबे के भी सिक्के प्रचलित थे।

व्यापारिक तथा आर्थिक संस्थाएँ और श्रेणी (गिल्ड) भी थीं। सम्मिलित संघ भी होते थे जिनमें खेतिहर, चरवाहे, नाविक (मल्लाह), कारीगर व्यापारी, सेठ (बैंकर) तथा वेदों के विशेषज्ञ भी सम्मिलित थे। प्रत्येक संघ का प्रधान 'जेठ्ठक' होता था जो प्रमुख अर्थात् सभापति का काम करता था और वह राजदरबार में प्रमुख व्यक्ति माना जाता था। पिता जो व्यवसाय करता था पुत्र भी उसी व्यवसाव को अपना लेता था अर्थात् पेशे खान्दानी चलते थे। भिन्न-भिन्न संस्थाओं का एक महा संघ भी बना होता था जिसका एक सामान्य प्रधान (सभापति) तथा कोषाध्यक्ष (भंडागारिका) होता था। तहाँ तक कि डाकुओं तथा लुटेरों के संगठन भी होते थे। व्यापार का एक प्रधान होता था जिसे 'सेठ्ठी' कहा जाता था। व्यवसायिक महासंघ का प्रधान 'महासेठ्ठी' कहा जाता था जिसके आधीन कई 'अनुसेठ्ठी' होते थे। व्यापारिक काफिलों के भी अलग-अलग दल होते थे जिनमें से प्रत्येक का एक प्रधान (कप्तान) होता था

जिसको 'सत्यवाद' कहा जाता था। कृषि सम्बन्धी प्रधान को 'भोजक' कहा जाता था। उक्त संघों को नियम (कानून) बनाने तथा न्यायालय सम्बन्धी एवं कार्यकारिणी (प्रशासकीय) के अधिकार होते थे। इन संघों में कठोर अनुशासन रहता था और राजा इनके निर्णयों तथा व्यवस्थाओं की रक्षा करता था। कारीगरों की भी संस्थाएँ बहुत विकसित रूप में थीं।

कृषि मुख्य व्यवसाय था। 'आर्य' शब्द का अर्थ ही (कृष धातु से) मिट्टी जोतने वाला होता है। चावल तथा जौ मुख्य अन्न थे। लोबिया, मोथी, मसूर, तिल, मकाई आदि अन्य प्रमुख अनाज थे। गेहूँ न होते हुये भी प्रसिद्ध था। कृषिकार अर्थात् किसान लोग बहुत समृद्ध थे। उनको युद्ध अथवा अन्य सार्वजनिक सेवाओं से अलग रक्खा गया था। युद्ध के समय उनको नहीं सताया जाता था। वे सरकार को लगान के अतिरिक्त खेत की उपज का भी कुछ हिस्सा देते थे। संकट के समय अन्य कर भी लगा दिये जाते थे।

लोग चहारदीवारी तथा खाई से घिरे हुए गाँवों में रहते थे। गाँव के द्वार पर रक्षकों का पहरा रहता था। जंगली जानवरों से रक्षा के हेतु गाँव के चारों ओर छोटी-छोटी और खाइयाँ भी बनी होती थीं। कौटिल्य ने ऐसे अधिकारियों का उल्लेख किया है जो पशुधन, चारागाह तथा जंगलों की देखरेख तथा प्रशासन करते थे। मादक-द्रव्य तथा नमक बनाने का काम राज्य के हाथ में था। बाढ़, अग्निकांड, टिड्डियों के हमले तथा दुर्भिक्ष भी होते थे। कौटिल्य ने बाँध (जलाशय) बनाना, गरीबों को काम देना, सार्वजनिक (राजकीय) सहायता देना तथा बड़ी-बड़ी सिंचाई योजनाओं के अलावा अन्य सहायता देना आदि अकाल-निवारण के उपाय बताये हैं।

पंडित लोग सूखा पड़ने, खराब मौसम, रोगों के आक्रमण तथा हवा की गतियों के सम्बन्ध में पहले ही भविष्य-वाणी कर दिया करते थे। कारीगर लोग कृषि सम्बन्धी औजार तैयार करते थे।

राजा समस्त सम्पत्ति का संगठनकर्त्ता एवं उपयोग करने वाला होता था। रुपये के उपयोग के कारण सब प्रकार के धन का केन्द्रीय सरकार के पास पहुँच जाना सरल हो गया था। कौटिल्य ने यह दिखाया है कि किस सीमा तक अर्थशास्त्री लोग राजनीति में योगदान करते हैं। कौटिल्य ने राजाओं को खान, बुनाई, सिंचाई, भण्डारवृद्धि, व्यापार आदि धन के

समस्त स्रोतों पर नियंत्रण रखने के लिए अधीक्षकों (सुपरिन्टेन्डेन्टों) के रखने की सलाह दी है। इन सब पर नियंत्रण रखने के लिए सविस्तार कानून बने हुये थे। इस प्रकार भारत ने सर्वप्रथम विश्व के समक्ष "राज्य-समाजवाद" का चित्र प्रस्तुत किया था।

## कला-कौशल

साधारणतः कारीगरी का आधार बंशानुगत हुनर होता था। जातकों, लकड़ी के काम करने वाले, लोहे का काम करने वाले, चमड़े का काम करने वाले तथा चित्रकार आदि १८ मुख्य दस्तकारों के उल्लेख किए हैं। लुहार का भारतीय शब्द 'कम्मार' था। वद्धकी सब प्रकार के लकड़ी के काम को कहते थे नाव, जहाज और मकानादि बनाने वाले अलग-अलग कारीगर होते थे। हाथी दाँत की वस्तुएँ बनाने, कपड़ा, बुनने, मिठाई आदि बनाने, जेवरात तथा बहुमूल्य धातुओं की चीजें बनाने तथा बर्तन, धनुष-वाण, माला आदि बनाने के भी अलग-अलग कारीगर होते थे।

महान मौर्य सम्राट अशोक के ही समय में हमें अधिकाधिक संख्या में ऐसे उत्कृष्ट क़िस्म के स्मारक देखने को मिलते हैं जिनसे हम भारतीय कला के स्वरूप के विषय में अपने निश्चित विचार बना सकते हैं। भारतीय कला में जो नया विकास हुआ था उसके लिए भी अशोक ही उत्तरदायी है। इसी के शासनकाल में सर्वप्रथम भारत में भवनादि बनाने में पत्थर का व्यापक उपयोग किया गया। इसके पूर्व लकड़ी का ही अधिक उपयोग होता था। यहाँ पर हम मौर्यकाल तक भारतीय कला के इतिहास की रूपरेखा, भवननिर्माण व सज्जा, धार्मिक कला, शिल्प-कला, चित्रकारिता, नृत्य, संगीत आदि शीर्षकों के अंतर्गत देते हैं।

## भारतीय कला के सिद्धांत

प्रारंभ में हमें भारतीय कला के मौलिक तात्पर्य का वर्णन करना चाहिए। भारतीय कला यूरोपीय कला से इस अर्थ में भिन्न है कि भारतीय कला आत्मा के प्रकाश पर आधारित है परन्तु यूरोप का सिद्धांत "कला कला के लिए" है। महात्मा गाँधी के शब्दों में "सभी सच्ची कला आत्मा का प्रकाश है। समस्त सच्ची कलाओं को आत्मा की स्वानुभूति में सहायक होना चाहिए। एनी बेसेन्ट के अनुसार भारतीय

कला ईश्वरी बुद्धि के वृक्ष का खिला हुआ पुष्प है जिसमें अदृश्य जगत् की बातें भरी हुई हैं और जो अप्रकट को प्रकट करने का प्रयत्न करता रहता है। इसको केवल बुद्धि एवं भावुकता से कभी भी नहीं समझा जा सकता। इसके आंतरिक महत्व की झलक केवल आत्मा की ज्योति में ही मिल सकती है। कुमारस्वामी के अनुसार "धर्म एवं कला एक ही अनुभव–यथार्थता एवं एकरूपता के अन्तर्ज्ञान–के नाम हैं।" कलाकार ने अपनी रचनाओं में, प्रकृति तथा जीवन का, उनके अध्यात्मिक महत्व सहित दर्पण प्रस्तुत किया और वे इसलिए ऐसा कर सके क्योंकि उन पर कठोर अनुशासन था। हमारे शिल्प–शास्त्र के अनुसार "शिल्पी को अथर्ववेद, ३२ शिल्प शास्त्रों तथा उन मंत्रों का ज्ञाता होना चाहिए जिनसे देवता निकले हैं।" "चित्रकार के लिए भला आदमी, विद्वान्, पवित्र तथा आत्म–संयमी होना आवश्यक है। उसमें आलस्य तथा क्रोध न होना चाहिए।"

टैगोर ने हमारे अस्तित्व के मूल में निहित आत्म–प्रकाश की भूख का उल्लेख किया है। और अधिक दार्शनिक भाषा में कला का लक्ष्य अदृश्य आत्मा (निराकार) को साकार करना बताया है। समस्त कला सौन्दर्य–अल्पकालीन नहीं–का प्रकाश है। अन्तर एवं आत्मा सच्चा सौन्दर्य है और कलाकार के रूप में योगी ही इस सौन्दर्य को अपनी कृतियों में प्रकट रूप दे सकते हैं। अस्तु, भारतीय कला अन्तर्ज्ञान सम्बन्धी तथा अध्यात्मिक कला है। इसका सबसे बड़ा लक्ष्य आत्मा, ईश्वर एवं निराकार को उसके जीवित प्रतीकों के द्वारा प्रतिबिम्बित या प्रकट करना है। जब तक भारतीय जीवन पुनः राष्ट्रीय संस्कृति की एकता से प्रेरित नहीं होता जब तक राजनीतिक एकता की वास्तविक प्राप्ति नहीं हो सकती। भारतीय कला उसी अध्यात्मिकता पर आधारित भिन्नता में भी एकता का सबसे स्पष्ट चित्रण है। इस अर्थ में भारतीय कला दृश्य से अदृश्य तक पहुँचने के चिन्तन का द्वार तथा महान स्वप्नों एवं प्रेरणादायक दृष्टि का स्रोत है। श्री अरविन्द के शब्दों में "समस्त भारतीय कला उस गम्भीर आत्मदृष्टि का प्रकाश है जो स्वरूप एवं प्रकट के रहस्यपूर्ण महत्व को जानने के लिए अन्तर में जाने से बनती है। भारतीय कला अपने आत्मा के अन्दर ही निहित विषय का अन्वेषण, उसी दृष्टि को आत्मा का स्वरूप प्रदान करना तथा भौतिक एवं–प्राकृतिक आकार का पुनर्निर्माण करना है जिससे कि अधिकाधिक पवित्रता सहित उसका आन्तरिक सत्य प्रकट हो सके।" "कलाकार के लिए बाह्य अन्तर का केवल वस्त्र मात्र है। और वह

केवल इस लिए इस वस्त्र को चमकीला और सुन्दर बनाता है जिससे कि अन्तरात्मा में निहित अदृश्य के विषय में संकेत मिल सके ।"

अस्तु, भारतीय कला भारतीय संस्कृति के आधार, आध्यात्मिकता में निहित उसकी नींव, के प्रति सच्ची है। इसका यह अर्थ नहीं है कि भारतीय कलाकार ने आत्मा के स्वरूप की उपेक्षा की थी या उसने परिभाषा की पूर्णता को नहीं देखा था। भारतीय कला में पारिभाषिक पूर्णता एवं लौकिकता थी किन्तु इसका आधार जीवन की गहनतम वस्तुओं की अन्तर्दृष्टि थी। हम अब वास्तुकला का पहले अध्ययन कर लें।

हमारे सामने इस समय वैदिक वास्तुकला के अवशेष नहीं हैं। संभवतः वैदिक सिद्धान्त के लिए स्थायी भवन या देवताओं का प्रतिनिधित्व आवश्यक नहीं है। यह भी सम्भव है कि वैदिक वास्तुकला के अवशेष लकड़ी के बने होने के कारण नष्ट हो गए।

जब भारत में वास्तुकला का विकास हुआ, इसके स्रोतों में एक स्वदेशी अर्थात् स्थानीय और दूसरी विदेशों से आयी हुई थीं। किसी मकान के लकड़ी के बने अगवाड़े की सबसे मुख्य विशेषता दरवाजे या खिड़की के ऊपर बने हुए एक प्रकार के मण्डप घोड़े की नालदार जैसी बनावट थी। साँची स्तूप में यही बनावट मिलती है। यह उसी आकार की गुफा का छोर (अन्तिम भाग) है और बल्लियों पर टिकी हुई है। आगे चलकर इन छोरों की शक्ल बदल कर घोड़े की नाल के छोर की शक्ल की हो जाती है। ज्यों-ज्यों कला का विकास होता है घोड़े की नाल की मेहराबों की संख्या बढ़ती जाती है और इनका आकार छोटे से छोटा होता जाता है। बाद में मेहराब कटहरों तथा नुकीले कार्निसों पर बनाए जाते हैं। इन कार्निसों का आकार आगे चलकर वक्राकार हो जाता है। यह बनावट अजन्ता की १९वीं गुफा के बाहरी भाग में है। एक अन्य प्रमुख विशेषता स्तम्भ (खंभा) है जो आठ किनारे का और सादा है यह भाज की गुफा में ह। कुछ लोग बताते हैं कि इनमें विदेशी प्रभाव पड़ा है। विशेषतः अशोक के स्तम्भों में यह प्रभाव देखा जाता है। यह स्तम्भ बिना आधार के, गोल, चिकने हैं और इनका ऊपरी भाग घंटी के आकार का है। हेवेल के अनुसार यह बन्द कमल के आकार का है जो पूर्णतः भारतीय है। इसके चारों ओर पट्टी बनी हुई है। सारनाथ के अशोक स्तम्भ की यही बनावट है। इसके ऊपरी भाग (सिरे) के आकार में परिवर्तन होते

रहते हैं और आगे चलकर यह बल्ब के आकार का और पगड़ीनुमा हो जाता है।

वास्तुकला का दूसरा स्वरूप गुफा है। यह दो प्रकार की है। सबसे सादे प्रकार की वे गुफाएं हैं जो चट्टान में काटकर एक छोटे कमरे के रूप में बनी हुई हैं। ये कमरे चौकोर या तिरछे बने हैं। इनकी छत चपटी है और इसके चारों ओर भिक्षुओं के लिये छोटी-छोटी कोठरियाँ बनी हुई हैं। दूसरे प्रकार की गुफाएं लम्बी हैं और इनका ऊपरी भाग गोल और ऊँचा है। ये लकड़ी के मेहराब के सहारे बनी प्रतीत होती हैं। इनके अगवारे पर घोड़े की वृहत् नाल के आकार का मेहराब बना हुआ है। अजन्ता की २६वीं गुफा इसी बनावट की है।

## सज्जा

ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में भारहुत में सजावट में कमल तथा अन्य प्रकार के भारी-भारी पौधों के प्रयोग किये गये हैं। फूलों के हारों से भी सजावट की जाती थी। इस सजावट में जल में होने वाले छोटे-छोटे जीव भी दिखाए जाते थे। छोटे और वक्राकार पंखदार जानवर भी दिखाए गए हैं। कहीं कहीं इन जानवरों की पीठ पर सवार भी दिखाए गये हैं। इन जानवरों में गिद्ध, पंखदार घोड़े, साँप की पूछ वाले आदमी, सिंह आदि चित्रित किये जाते थे।

## स्तूप

भारतीय वास्तुकला में ही मौलिक रूप में अर्ध गोलाकार टीला बनाया गया है जिसका ऊपरी भाग अंग्रेजी के "टी" तथा छाता के समान होता था। कहीं कहीं इस 'टी' के चारों ओर नक्काशीदार कार्निस बनी हुई है।

स्तूप में महात्मा बुद्ध की अस्थियाँ रखी गई थीं और ये अन्त्येष्टि-स्मारक थे। ये स्मारक आठ भागों में विभाजित थे। इस प्रकार आठ स्तूप बनाए गये थे। अशोक ने इन अस्थियों को संग्रह किया और उनको विभाजित किया और उनके लिए भारी संख्या में बड़े-बड़े प्रासाद बनवाये। इस प्रकार स्तूप का कार्य-क्षेत्र बढ़ गया। ये बड़े-बड़े ऋषियों की अस्थियाँ या अन्य अवशेषों को सुरक्षित रखते थे। किसी महान् या आश्चर्य जनक घटना के स्मारक के रूप में भी इनका उपयोग हुआ। स्तूप सभी आकार-प्रकार के होते थे। बड़े स्तूपों के चारों ओर कटहरे

होते थे और इन कटहरों में प्रवेशद्वार होते थे ताकि वह भूमि पवित्र रह सके। पहले स्तूप की समाधि चपटी होती थी और चबूतरा नीचा होता था। बाद में दोनों ऊँचे हो गए। समाधि का स्वरूप घंटे के आकार का हो गया। अजन्ता की २६ वीं गुफा में इस आकार की समाधि है। भारत में बौद्धधर्म के ह्रास के साथ-साथ स्तूप की बनावट का भी ह्रास हो गया। बाद में स्तूपों को शिल्प से विभूषित कर दिया गया।

स्थापत्तकला के क्षेत्र में अशोक स्तंभों का प्रभुत्व था। ये स्तम्भ सुन्दर बलुहे पत्थर के बने थे और ४० से ५० फीट तक ऊँचाई तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के थे। इनमें से प्रत्येक का वज़न लगभग ५० टन है। ये बनारस के निकटस्थ चुनार के पत्थरों से बनवाये गये थे। अशोक के लेखों को खुदबाने के लिए इनका उपयोग किया गया था। यह भद्देरूप में जमीन से निकले हुए हैं। गोल पुच्छाकार लाट सादगी से पूर्ण किन्तु सुन्दरतम पालिश युक्त है। इसकी शीशे की तरह चमक आज तक भी वैसी ही बनी हुई है। यह विज्ञान का आश्चर्य है। सारनाथ स्थित सुन्दर ढ़ंग से निर्मित सिंह-स्तम्भ में एक विशेषता यह है कि उसमें बौद्ध सिद्धांत का प्रतीक धातु से निर्मित वृहत् चक्र और जोड़ दिया गया है। पत्थर के इन वृहत् स्तंभों को दूर-दूर से लाना वीरता का काम था और स्पष्ट है कि इसमें उच्चतम इंजीनियरिंग कला की आवश्यकता पड़ी थी। फिरोज़ तुग़लक ने इस तरीके का प्रयोग किया था कि स्तंभ को रुई व चमड़ा की कई मोटी तहों में विशेष रूप से बनवाई गयी ४२ पहियों की गाड़ी में रक्खा था। गाड़ी के हर पहिए पर २०० आदमी थे। इस प्रकार ८४०० आदमी उसे दिल्ली से डेढ़ सौ मील दूर स्थित किसी स्थान से जमुना नदी तक लाए थे जहाँ से अनाज की कई नावों पर स्तंभ को लाद कर दिल्ली लाया गया था। यहाँ फिर स्तंभ को उसी गाड़ी पर लाद कर मुस्लिम राजधानी में उसे गरारी के द्वारा खींचकर सीधा खड़ा करके इसको स्थापित किया गया था।

## धार्मिक कला

विशुद्ध धार्मिक कला प्रथमतः बौद्धधर्म से अधिकाँशतः सम्बन्धित है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रारंभिक कला में बुद्ध का प्रतिनिधित्व नहीं है। उनका स्थान रिक्त दिखाया गया है, उनकी जगह पर उनके पदचिन्ह दिखाए गए हैं, सवार विहीन घोड़ा दिखाया गया है तथा एक छतरी से उनकी उपस्थिति का संकेत दिखाया गया है। वृक्ष-

सहित रिक्त स्थान या चक्र सहित रिक्तस्थान भगवान बुद्ध की उस अवस्था का द्योतक है जबकि वे प्रबुद्ध हुए थे या उन्होंने प्रथम उपदेश दिया था। जहाँ बुद्ध की माता माया कमल के फूल पर हाथियों सहित खड़ी या बैठी दिखाई गयी हैं वहाँ उनके जन्म का संकेत है। छतरी के नीचे सवारहीन घोड़ा महात्मा बुद्ध के परिवार छोड़कर जाने का प्रतिनिधित्व करता है।

इस प्रकार पूरी धार्मिक कला की स्थापना हो गई। बुद्ध को उनके पूर्वजन्मों तथा उनके विभिन्न रूपों में भी दिखाया गया है। बौद्ध धर्म के प्रभाव के ही अन्तर्गत अशोक ने पश्चिमी घाट में भिक्षु–कलाकारों द्वारा उन गुफाओं (मन्दिरों) की खुदाई प्रारम्भ की थी जो बाद में "अजन्ता की गुफाएँ" के नाम से विख्यात हुयीं। इन गुफाओं के विषय में हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे।

उपर्युक्त तथ्यों से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि मौर्यकाल की कला भारतीय कला की विकसित स्थिति थी। इसलिए, मौर्यकालीन कलाकारों के पीछे कलात्मक प्रयत्नों का लम्बा इतिहास अवश्य रहा होगा। ईसा के २५० वर्ष पूर्व के भारतीय कला के नमूनों के न मिलने का कारण यह है कि उस समय भवन निर्माण या शिल्पकला में लकड़ी, मिट्टी, बाँस आदि ऐसी वस्तुओं का प्रयोग होता था जो शीघ्र नष्ट हो जाती थीं। संभवतः इसका कारण जीवन का वह दर्शन भी है जिसमें सादगी पर जोर दिया गया है। यज्ञवेदियाँ, यज्ञशाला, यज्ञभवन, अग्निमंडप आदि बनाने की धार्मिक आवश्यकता में भारतीय कला का जन्म हुआ था। दक्षिण में खुदाई करने पर जमीन के नीचे वैदिक अग्नि–वेदियाँ, समाधियाँ एवं कब्र आदि पाए गए हैं। राजगृह (बिहार) में मकानों और क़िलों के अवशेष मिले हैं। हम यह भी मान लेते हैं कि इससे पूर्व की कला के नमूने अब भी सामने आ सकते हैं तथा वे हाल में सिन्ध घाटी में पायी गयी कला से सम्बन्धित हैं।

## नृत्य तथा संगीत

सहस्त्रों वर्षों से भारतीयों में नृत्य के प्रति प्रेम चला आ रहा है और नृत्य की कुछ पुरानी परम्पराएँ, जैसे मालाबार में, अब भी जीवित हैं। समस्त भारतीय नृत्यों का सम्बन्ध 'शिव' से है जो ईश्वर के समान सृष्टि की रचना करते हैं, रक्षा करते हैं तथा उसका नाश करते हैं।

इन तीनों गतियों को एक चक्र माना जाता है । 'नटराज' के 'तांडवनृत्य' में इसी चक्र को प्रतिबिंबत किया गया है । तन्जोर में इस नृत्य का एक स्वरूप पाया जाता है ।

नृत्य सम्बन्धी प्रथम मुख्य ग्रन्थ भरत मुनि का 'नाट्य शास्त्र' है जिसको ईसा के ३०० वर्ष पूर्व लिखा गया माना जाता है । यह ग्रन्थ मुख्यतः नाटक से सम्बन्धित है और इसमें संगीत व नृत्य को नाटक का उप अंग माना गया है । भारतीय नृत्य के 'भारत नाट्य', 'कथा काली', 'मणिपुरी' तथा 'कथक' नामक चार सम्प्रदाय हैं । नैसर्गिक दृष्टि से इसके ताँडव (भयंकर) तथा लस्य (कोमल) नामक दो मुख्य वर्ग हैं । आम तौर पर नृत्य में सिर के नौ, आँखों के आठ, भौंहों के छः गर्दन के चार तथा हाथों और पैरों की लगभग चार हजार गतियाँ होती हैं । प्रत्येक नृत्य में सैद्धांतिक और व्यावहारिक दो पक्ष होते हैं । सैद्धांतिक में दैवत्व होता है और व्यावहारिक पक्ष में मौलिक पक्ष नहीं होता । इसी रूप में भारतीय नृत्य तथा आध्यात्मिकता में सम्बन्ध है और इसी कारण पश्चिम से यह भिन्न है । इनके ढंग भी एक दूसरे से काफी भिन्न हैं ।

'भारत नाट्य' दक्षिण का है । यह नृत्य मन्दिरों में होता है और सैकड़ों वर्षों से दक्षिण के मन्दिरों में यह नृत्य होता चला आ रहा है । इसका मुख्य आधार भक्ति है । यह नृत्य बहुत रोचक और सुन्दर होता है तथा इसमें असाधारण गतियाँ होती हैं । इधर हाल में इस नृत्य में भारी पुनर्जागृति हुई है ।

'कथा काली' नृत्य–नाटक है और सहस्रों वर्षों से केरल (पुराने मलाबार) में इसकी परम्परा चली आ रही है । 'कथा काली' में रामायण, महाभारत तथा अन्य वीरगाथाओं एवं सुरअसुर संग्राम की गाथाओं को प्रदर्शित किया जाता है । वास्तविक 'कथा काली' अत्यधिक पुरुषत्व संबंधी है और इसमें स्त्रियों को भाग लेने की आज्ञा नहीं है ।

'मणिपुरी' अधिकतर आसाम में प्रचलित है । इसमें कथक और भारत नाट्य दोनों की ही अनेक बातें मिलती हैं । यह नृत्य अधिकतर छण्द सम्बन्धी शब्दावलियों में होता है । इसमें चेहरे में कोई गति या हल-चल नहीं होती है और वह अचल रहता है । नृत्य की गतियों में ही गीतों के भावों को प्रकट किया जाता है । इसके साथ गाने भी होते हैं

और यह कृष्ण एवं गोपियों से सम्बन्धित पौराणिक कथाओं के नाटक का एक स्वरूप है।

'कथक' नृत्य उत्तरी भारत में प्रचलित है और यह भरत नाट्यम् से मिलता-जुलता है। मध्ययुग में संस्कृति में जो हिन्दू-मुस्लिम समन्वय हुआ इस नृत्य का वर्तमान स्वरूप उसी का उपज है। यह नृत्य मुख्यतः राधा तथा कृष्ण के प्रेम के प्रदर्शन से सम्बन्धित है। इसमें पैरों से अधिक काम लिया जाता है।

मैसूर के 'स्टाफ' नृत्य, 'मारवाड़ी' नृत्य तथा गुजरात के 'गरबा' नृत्य जैसे लोकनृत्य भी प्रचलित हैं। हिन्दू मस्तिष्क के अनुसार स्वर तथा वाद्यसंगीत एवं नृत्य में इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि प्राचीन लेखकों ने "संगीत" में ही इन तीनों को सम्मिलित कर लिया है। यद्यपि वस्तुतः इसका सम्बन्ध केवल स्वर संगीत से है।

समस्त कलाओं की भाँति संगीत का मूल भी वेदों में है। वैदिक सूची में दुन्दभी, वीणा, नादि आदि नाना प्रकार के संगीत सम्बन्धी वाद्य यंत्र दिये गये हैं। यजुर्वेद के समय से ही हमारे देश में व्यावसायिक संगीतज्ञ होते आये हैं। सामवेद में यह कला अत्यधिक पूर्णता तक पहुँच गई थी। इस काल में भजन, गीत, श्लोक आदि गाये जाते थे और क्रमशः उनको स्वर-ताल में बाँधा गया। इससे गायक पंडितों के एक वर्ग का जन्म हो गया। सामवेद के काल के बाद पाणिनि के व्याकरण में संगीत की चर्चा की गयी है। पाणिनि ने अपने व्याकरण में नृत्य विषयक दो सूत्रों के लेखकों के रूप में सिलालिन तथा कृषास्विन का उल्लेख किया है। यह भी कहा जाता है कि ईसा पूर्व ४०० वर्ष के रिकप्रतिसाख्य में संगीत के सात रागों का उल्लेख किया गया है। रामायण एवं महाभारत में भी चारण-गीत तथा अन्य प्रकार के गीतों के गाये जाने के उल्लेख हैं। संगीत में जो-जो विकास होते गए उन्हीं के फलस्वरूप भरतमुनि ने अपने "नाट्यशास्त्र" में संगीत संबंधी नियमादि बनाये। इस ग्रन्थ में संगीत पर तीन अध्याय हैं। किन्तु इस ग्रन्थ में राग-रागिनियों का उल्लेख नहीं है। राग-रागिनियाँ मध्ययुग में हमारे सामने आयीं। केवल 'जातियों' का उल्लेख है और इनसे ही आधुनिक 'रागों' का जन्म हुआ बताया जाता है। परन्तु भरत नाट्य-शास्त्र में भिन्न-भिन्न समय के संगीत विषयक स्वर या रागों की मुख्य विशेषताओं के सम्बन्ध में कोई पथप्रदर्शन नहीं किया गया है तथा साम संगीत एवं

इससे प्राचीन संगीत में कोई सम्पर्क नहीं स्थापित किया गया है। अस्तु,भारतीय इतिहास के प्रारंभिक काल के संगीत के विश्वसनीय इतिहास की कोई भी सामग्री हमारे पास नहीं है और यदि है भी तो बहुत थोड़ी। प्राचीन भारतीय नृत्य एवं संगीत के इतिहास में हमें केवल उपर्युक्त विकास ही दिखाई देते हैं।

अन्त में, कौटिल्य, चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार के ग्रीक राजदूत मेगस्थनीज़ तथा अशोक के शिलालेख में जो प्रमाण हैं वही हमारे सामने मौर्यकाल के भारतीयों के सुसंस्कृत जीवन का चित्र प्रस्तुत करते हैं।

## कुशन-काल

मौर्यकाल में जो संस्कृति दिखाई गयी है वही जारी थी कि इसी बीच भारत में कुछ विदेशी जातियों ने प्रवेश किया और भारतीय संस्कृति में उन्होंने भी अपने-अपने योगदान किये। भारतीय जीवन एवं संस्कृति को समृद्ध बनाने में कुशानों ने विशेष योग दिया। इस काल की तीन महत्वपूर्ण विशेषताएँ ये हैं कि इसमें पश्चिम से व्यावसायिक समागम हुआ, बौद्ध धर्म के हीनयान एवं महायान नाशक दो सम्प्रदाय हो गए और गाँधार कला का उदय हुआ।

कुशान शासन काल में, विशेषत: कनिष्क महान् के राजत्व काल में रोम तथा चीन से भारत के सक्रिय सम्पर्क क़ायम हुए। जब आगस्टस ने अपने को रोमसाम्राज्य का सम्राट घोषित किया था कुछ भारतीय नरेशों ने उसके पास बधाइयाँ देने के लिए शिष्टमण्डल (मिशन) भेजे थे। रोम के इतिहासविद् स्ट्रैबो ने ऐसे ही एक शिष्टमण्डल का उल्लेख किया है जिसको ६०० राजाओं के प्रधान (राजा) ने भेजा था कुछ लोग इस प्रधान का नाम 'पोरस' और कुछ 'पैन्डियन' बताते हैं। इस शिष्ट मण्डल का नेता ग्रीक भाषा में लिखित एक पत्र ले गया था जिसमें आगस्टस को मैत्रीपूर्ण सन्धि करने का निमंत्रण दिया गया था और रोम के नागरिकों के लिए स्वतंत्र रूप से उक्त 'प्रधान' के राज्य में यात्रा करने देने का प्रस्ताव किया था। यह शिष्ट मण्डल ईसा से २५ वर्ष पूर्व नर्बदा नदी के मुहाने पर स्थित बेरीगाजा (भड़ोंच) से रवाना हुआ था। इन लोगों ने फारस की खाड़ी से होकर इफ़ात नदी तक तथा दमिश्क और एन्टियोक तक सामुद्रिक यात्रा की थी। आगस्टस के पास पहुँचने में इन लोगों को ४ वर्ष का समय लगा। सामो द्वीप में ये

लोग आगस्टस के समक्ष प्रस्तुत किए गए। इन लोगों ने आगस्टस को उपर्युक्त पत्र के साथ-साथ नाना प्रकार के उपहार भेंट किये जिनमें शेर, चीते, वृहत् कछुए, हिमालय के तीतर तथा एक ऐसा बिना हाथ का लड़का भी था जो पैरों के अंगूठों से वाण चलाता था। यह शेर यूरोप में पहले-पहल ही देखे गए थे।

रोम के सोने के सिक्कों की नक़ल करके कुशानों ने भी सुन्दर सोने के सिक्के भारत में चलाए ताकि रोम से जारी व्यापार की उन्नति हो। इस प्रकार वैदेशिक-सम्पर्क के फलस्वरूप भारत में मुद्राओं का प्रचलन हुआ। इन सिक्कों के एक ओर कुशान राजाओं के चित्र होते थे और दूसरी ओर विदेशी या भारतीय देवताओं की मूर्तियाँ रहती थीं। इन भारतीय देवताओं में नन्दी (साँड़) सहित शिव, उनके पुत्र स्कन्द और बुद्ध होते थे।

ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी के प्रारम्भ में भारत तथा रोम-साम्राज्य की दूरी ६०० मील से अधिक नहीं थी। ईसवी सन् ९९ में रोम में भेजे गए एक कुशान राजदूत का जोरदार स्वागत किया गया था। उन्हें सीनेटर के स्थान दिये गये थे। भारत में विलासिता की वे सभी वस्तुएँ अपरिमित मात्रा में थीं जिनका रोम के लोगों को बहुत शौक़ था। इन वस्तुओं में जेवरात, सुन्दर मलमलें, हाथीदाँत, नील, द्रव्य (रसायन), इत्र, तेल, चेहरे को सुन्दर बनाने की चीजें आदि हैं। रोम का सोना भारत में इतनी भारी तादाद में आया कि टिबेरियस जैसे सम्राटों को सैनिक तथा शासकीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए रुपया कम पड़ गया और उनको धनाभाव का सामना करना पड़ा। दक्षिण में जो खुदाई हुयी है उसमें विशेषतः रोम की स्वर्ण मुद्राएँ प्राप्त हुयी हैं। यह रोम के साथ होने वाले व्यापक भारतीय व्यापार का प्रमाण है। भारत में सीमित मात्रा में कपड़ा (सन का), मूँगा, शीशा, सुरमा, ताँबा, टीन, जस्ता, तथा शराब का आयात (विनिमय के रूप में) होता था ताकि व्यापार का सन्तुलन हमेशा भारत के पक्ष में रहे। रोम को सोने के रूप में ही अपना भुगतान करना पड़ता था।

पहले तो अधिक व्यापार एशिया भर में बिखरे हुए स्थलमार्गों से होता था। ये मार्ग बैक्ट्रिया से सभी ओर को गये थे। भारत और फारस की खाड़ी के बीच एक जलमार्ग भी था जिसका प्रयोग ईरानी,

अरब, कि और भारतीय जहाज करते थे। यह मार्ग अदन, मोशा, तथा लाल सागर में एकुबा की खाड़ी के मुहाने पर स्थिति सोलोमन के प्राचीन बन्दरगाह एज़ियन–गेबर होकर जाता था। परन्तु खराब मौसम, चट्टानों तथा समुद्री डाकुओं के कारण इसका हमेशा उपयोग असम्भव था। सिकन्दर के एक अज्ञात कप्तान द्वारा इस मार्ग से जलयात्रा किये जाने का हमारे सामने एक प्रमाण (विवरण) है। इस प्रमाण का नाम 'इरिथियन सागर का पेरिप्लस' है। इसमें ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में भारत और मिस्र के बीच की एक जलयात्रा का वर्णन है। इस विवरण में भड़ोच के खतरनाक ज्वार–भाटों, शाही हरम के लिए चुनी हुयी लड़कियों व गाने वाले लड़कों के भारतीय आयात, सौराष्ट्र काठियावाड़ में शक और पहलव राजाओं के झगड़े आदि मनोरंजक विषय हैं। दक्षिणी भारत के विभिन्न बन्दरगाहों के भी वर्णन किये गये हैं।

ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में व्यापार सम्बन्धी हवाओं एवं मानसून का आविष्कार हुआ जिससे भारत और सिकन्दरिया (मिस्र) के बीच संक्षिप्त व्यापार का द्वार खुल गया। इस अनुसंधान की सहायता से जलयात्राओं को निरापद बनाया जा सकता था। अब सिकन्दरिया एशिया, अफ्रीका, यूरोप के व्यापारियों, साहसी यात्रियों, दार्शनिकों, विद्वानों, ऋषियों, सन्यासियों आदि का मिलन–स्थान बन गया।

कहा जाता है कि कई भारतीय विचारधाराएँ संस्कृतियों के सिकन्दरिया के पंचमेल का अंग हो गई थीं। उदाहरणार्थ, सिकन्दरिया के निवासी भारतीय योगियों के काम जानते थे। वे भारतीय गुफाओं (मन्दिरों) तथा बौद्ध मठों के जीवन विषयक विवरण पढ़ते थे। ईसाई धर्म की इस समय की कुछ व्यवस्थाओं में सम्भवतः बौद्ध धर्म की कुछ रीतियाँ तथा पूजा–पाठ की विधियाँ ले ली गयी हैं। भ्रातृत्व का कठोर अनुशासन, घंटे बजाना, गुलाब के फूल का उपयोग ऐसी हो विधियाँ हैं जिन्हें बौद्धधर्म से ईसाई धर्म ने ली हैं। गिनती के भारतीय अंक, जिन्हें ग़लती से अरबी कहा जाता है, ईसवी सन् की द्वितीय शताब्दी से सिकन्दरिया में लागू किये गये थे। गणित में सबसे बड़ा योग देने वाला भी भारतीय था। जिसने 'शून्य' की प्रथा का आविष्कार किया था। दशमलव योजना से गिनती के अंकों का मूल्य स्थिर हुआ। इन अंकों के आविष्कार के लिए सभ्य जगत भारत का बहुत ऋणी है। ये अंक सिकन्दरिया होकर भारत से यूरोप गये।

इस प्रकार सिकन्दरिया के मार्ग से होकर भारत और पश्चिम के बीच व्यापक व्यावसायिक तथा साँस्कृतिक समागम के प्रमाण हमें मिलते हैं। सिकन्दरिया अब विद्या एवं संस्कृति के केन्द्र के रूप में दूर–दूर तक विख्यात हो गया। यूरोप और अफ्रीका के बाजारों में भारतीय वस्तुओं की भारी खपत होती थी। भारत में सोने का भारी परिमाण में आगमन हो रहा था और भारतीय विचारधाराएँ तत्कालीन ज्ञात जगत की सम्पत्ति बन चुकी थीं। इस प्रकार यह कथन ग़लत सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में भारत संसार से अलग था। इसके विपरीत भारत का प्रारम्भ से ही संसार की सभ्यता में प्रमुख हाथ रहा है।

इसी काल में बौद्ध धर्म हीनयान तथा महायान नामक दो सम्प्रदायों में विभाजित हुआ। ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी से ईसा के बाद द्वितीय शताब्दी तक बौद्धधर्म ने भारतीय कल्पना–प्रवाह में नेतृत्व किया। यह दर्शन के क्षेत्र में हुए अद्भुत प्रयास का प्रमाण प्रस्तुत करता है। इस अन्दोलन का नेतृत्व एक नये बौद्धधर्म ने किया जो ईसा के बाद द्वितीय शताब्दी के निकट महायान नाम से विख्यात हुआ। पुराना बौद्धधर्म हीनयान अर्थात् छोटा माना जाने लगा और यह बड़ा माना जाने लगा। हीनयान लंका, स्याम, बर्मा आदि तक ही मुख्यतः सीमित रहा परन्तु महायान मध्य एशिया तथा सुदूर पूर्व (चीन, जापान आदि) भर में फैल गया। हीनयान को 'दक्षिणी बौद्धधर्म' तथा महायान को 'उत्तरी बौद्ध धर्म' भी कहा जाता है यद्यपि महायान का प्रसार पहले भारत के दक्षिण में हुआ था।

बौद्ध धर्म के प्रारंभिक संस्कृत ग्रन्थों में हीनयान शब्द का उपयोग हुआ है परन्तु प्रारंभिक बौद्ध इस शब्द से अपरिचित थे। महा तथा हीन उपसर्गों के उपयोग के विषय में भी कई विचारधाराएँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि महायान बुद्धत्व, उच्चतम तक लक्ष्य के, जिसको बुद्ध ने प्राप्त किया था, पहुँचने का पक्का मार्ग है तथा हीनयान 'अरहत' तक ही पहुँचने का पक्का मार्ग है और यह मार्ग औसत बुद्धि के लोगों के लिए ही है। कुछ लोगों का यह कहना है कि महायानी दूसरों को 'निर्वाण' प्राप्त करने में सहायता देने के बाद ही अपना निर्वाण चाहते हैं परन्तु हीनयानी केवल अपनी भलाई के विषय में ही संलग्न रहते हैं।

शिक्षा में हुए इस परिवर्तन में राजनीतिक एवं सामाजिक घटनाओं

नें बड़ा योगदान किया है। केवल संयोग से ही उत्तर-पश्चिम ने महायान के प्रसार में मुख्यतः योग नहीं दिया। बल्कि यही वह मार्ग था जिसके द्वारा वैदेशिक तत्व देश में सरलता से हमेशा प्रवेश कर सकते थे। और नए बौद्धधर्म के प्रकट होने तथा कनिष्क के नेतृत्व में काश्मीर में हुई वृहत् परिषद की महासभा से सम्बन्ध था। ग्रीक, सेनेटिक, ईरानी तथा चीनी प्रभावों ने सिन्ध से पामीर तक ऐसा विचित्र वातावरण उपस्थित कर दिया था जिसमें एक ऐसे बौद्ध धर्म का आना आवश्यक था जिसने 'ब्राह्मणवाद' से ली गई सभी बातों को अपने में मिला लिया था। अस्तु, नए बौद्धधर्म के प्रचलित होने के दो मुख्य कारण हैं। पहला, भारत में बाहर से आए हुए विदेशियों का प्रभाव और दूसरा बौद्ध धर्म पर ब्राह्मणवाद की प्रतिक्रिया।

जिस समय बौद्ध धर्म भारतीय कम और विश्व-व्यापी अधिक होता जा रहा था उसी समय उसका स्वरूप भी और अधिक "हिन्दू" होता जा रहा था। शैव तथा वैष्णव सरीखे प्रसिद्ध धर्म भी बौद्ध धर्म के सिद्धांतों में प्रविष्ट होने लगे। अस्तु, महायान को हिन्दूधर्म से न केवल उसका दर्शन मिला बल्कि हिन्दूधर्म ने उसको कहानियों का वृहत् समूह तथा अन्धविश्वास भी दिया। संक्षेप में बौद्धधर्म में तन्त्र और पुराण भी हो गए। बुद्ध को देवता, ईश्वर तथा अवतार मान लिया गया और कई समारोह होने लगे। अब बौद्धधर्म का लक्ष्य समस्त मानवता में लीन हो जाना हो गया। नए बौद्धधर्म ने तर्क विद्या तथा योगद्वारा प्रेरित एक प्रकार की समाधि के दो मुख्य तरीके अपनाए।

मिलिदपन्ह में वादविवाद के तरीके के रूप में तर्क विद्या पाई जाती है जिसका उपयोग नागसेन द्वारा किया गया है। इस प्रणाली का आधार तर्क करने में निपुणता है। प्रत्येक वस्तु को नकारात्मक बताया गया है। शून्य के अतिरिक्त कोई भी चीज संसार में नहीं है। नए बौद्ध धर्म के प्रति लोगों में विश्वास उत्पन्न करने का यह सरल तरीका था।

योग से महायान को दर्शन मिला। इस परिवर्तन में कनिष्क के समकालीन संगीतज्ञ तथा संस्कृत काव्य के जन्मदाता अश्वघोष नामक भारत के एक प्रसिद्ध ब्राह्मण का प्रमुख नेतृत्व था। इनको महायान सम्प्रदाय का अधिष्ठाता (पादरी) मान लिया लिया गया। इन्होंने

बुद्धचरित तथा सूत्रालंकार नामक ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थों में महायान पर विचार किया गया है।

महायान के निम्नलिखित तीन मुख्य सिद्धान्त हैं:—

१—त्रिकाय (बुद्ध के तीन शरीर) की व्याख्या

२—देशभूमि (पवित्रकरण के १० चरण)

३—अनुत्पत्तिक धर्म-क्षन्ति (किसी सब वस्तु के भी जन्म न होने में विश्वास)

१—यह कहा जाता था कि बुद्ध कभी इस संसार में नहीं आते; वे संसार में केवल अपनी मूर्ति या शरीर भेजते हैं जो विधि, उपयोग या निर्वाण की होती थीं।

२—इसमें अध्यात्मिक प्रगति के भिन्न-भिन्न चरण दिए गए हैं।

३—यह वह दर्शन है जिसका पहले उल्लेख हो चुका है। इसमें यह कहा गया है कि इस संसार की किसी भी वस्तु का वास्तव में जन्म ही नहीं होता, उसका अस्तित्व ही नहीं होता था हमारा अपूर्ण मस्तिष्क ही इस माया जाल को यथार्थ मानता है।

महायान में तत्कालीन जनता के लिए सबसे अधिक दिलचस्प बात यह थी कि उनको देवता बना दिया गया था और मुक्तदाताओं की संख्या बढ़ा दी गई थी। आदि बुद्ध, प्राथमिक बुद्ध के अमितान तथा अमितायुस एवं भविष्य के बुद्ध मैत्रेय आदि कई बुद्ध माने गए थे और इनकी स्त्रियाँ भी थीं। इनमें से प्रत्येक के अलग-अलग स्वर्ग थे जिनसे उनके अनुयाइयों को प्रेरणा मिलती थी। इस प्रकार नए बौद्ध धर्म में भक्ति का स्थान सर्वोपरि हो गया। सुदूरपूर्व ने इसे शीघ्र अपना लिया क्योंकि उसको सन्यास की कम तथा भक्ति की अधिक आवश्यकता थी। आगे चलकर इन बुद्धों के और भी उपभाग हो गए। उदाहरणार्थ, आदि बुद्ध के समाधिस्थ होने से ५० बुद्ध (ध्यानी बुद्ध) पैदा हुए। तदुपरांत ध्यानी बोधिसत्वों तथा मनुषी बोधिसत्वों का प्रादुर्भाव हुआ। महायान ने वज्रयान जैसे नए यानों (बौद्ध तंत्र वाद) को जन्म दिया। आगे चलकर बौद्ध धर्म का जहाँ-जहाँ प्रसार हुआ वहाँ-वहाँ के धर्मों की कई विशेषताएँ इसमें आ गईं। इस प्रकार बौद्धधर्म दर्शनों, रहस्यों

और उत्सवों का मिश्रण हो गया। उक्त तथ्य से यह भी स्पष्ट है कि उस समय भारत में जिस नये हिन्दू धर्म का उदय हो रहा था उसका महायान पर काफी प्रभाव पड़ा।

यह स्वाभाविक ही था कि महायान सम्प्रदाय ने अपनी कला को जन्म दिया जिसे उसने गाँधार कला के रुप में भारत को दी। यह ग्रीक तथा अन्य कलाओं का मिश्रण है। यह कहा गया है कि जब तक ग्रीक लेखकों ने बुद्ध को आलिम्पस देवता नहीं माना तब तक बुद्ध की कोई मूर्ति नहीं बनी। उसके बाद में कुशानों के हिन्द-ईरानी कारीगरों ने बुद्ध की भिन्न-भिन्न मूर्तियाँ बनाईं। बाद में चीनी, तिब्बती, जापानी तथा खमेरों ने अपनी-अपनी भावना के अनुसार इनको अपनाया। चीनियों ने दानशील बोधिसत्त्व को क्वानयिन नामक एक मैडोना के अद्भुत् स्वरूप में परिवर्तित कर दिया।

ग्रीक-बौद्ध या गाँधार कला (जो भारतीय धार्मिक विषयों और ग्रीक प्रणालियों का मिश्रण है) ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दी के मध्य में और बाद में गाँधार और कापिसा (भारत के उत्तर-पश्चिम और वर्तमान अफ़गानिस्तान के दक्षिण-पूर्व) में विकसित हुयी। बुद्ध की सबसे पहली मूर्ति ग्रीक-गाँधार कला की कृति है। यह भिक्षु के वस्त्र धारण किए है और इसमें महान् धार्मिक सुधारक तथा भगवान बुद्ध की पूर्णता के चिन्ह हैं। इसमें लम्बे कान तथा दोनों भौहों के बीच में एक छोटे चक्र आदि सौन्दर्य के कई चिन्ह हैं। इसके बाल लहरदार और ऊपर गुच्छे में बंधे हुए हैं। बाद में भारतीय प्रभाव विशेषतः मथुरा के प्रभाव के फलस्वरूप ये बाल घुंघराले हो गए। इस कला में बोधि-सत्व की मूछें भी दिखाई गई हैं और उन्हें आभूषण भी पहनाए गए हैं। इस नवीन कला ने हेलेनिक नमूनों के स्वरूप बदल दिए और उनमें नई शक्ति और युवावस्था आई।

ईसवी सन् की तृतीय शताब्दी के निकट गाँधार कला का अन्त हो गया। जान इर्विन के अनुसार इस कला पर ग्रीक के बजाय रोमन प्रभाव अधिक पड़ा है और इसके चिन्ह पाये जाते हैं। यद्यपि गाँधार कला ने बुद्ध के सिर के नमूने बनाने में ग्रीक-रोमन ढंग का अधिक उपयोग किया था और उनके सिर का आकार-प्रकार भारतीय सन्यासी के स्थान पर एयोली के समान बनाया था तथा भिक्षुओं के वस्त्रों की मुड़ान

आदि में नया ढंग अपनाया था तथापि बुद्ध की मूर्ति का मूलस्वरूप पूर्ण भारतीय तथा सबसे प्राचीन बौद्ध साहित्य में दिखाए गए बुद्ध के शरीर पर के ३२ शुभचिन्हों के आदर्श वर्णन के पूर्णतया अनुकूल था। उदाहरण के लिए भौहों के बीच का ज्ञान का चिन्ह, लम्बे कान, लम्बी भुजाएँ, तथा गम्भीर चिन्तन (आँतरिक) में बन्द आँखें एवं उपदेश व वरदान देने के अध्यात्मिक संकेत आदि उक्त चिन्हों में हैं। गाँधार कला ने भारत-अफगान कला के रूप में एक नवीन कला को जन्म दिया जो यूरोप की गोथिक कला से मिलती-जुलती थी। इस कला ने हमको बहुत सुन्दर ढंग की बनी हुई शिल्प की वस्तुएँ दी हैं। सुदूर पूर्व की कला पर भी गाँधार कला ने अपना प्रभाव डाला था और बाद में मथुरा कला ने इसको और इसने मथुरा कला को प्रभावित किया।

शिल्पकला के अतिरिक्त कुशानों के शासनकाल में, उत्तरी प्रदेश में बौद्ध मठों के नये प्रकार की बनावट सामने आयी। इससे पहले बौद्ध मठों की इमारतें खुली हवा में बने स्तूपों के चारों ओर बनती थीं। अब वे छोटे घिरे हुए नगरों का अंग बन गयीं। खुले आँगन के तीन ओर भिक्षुओं के दुमंजिले कमरे बने हुए थे और बाहर से देखने वालों को खाली दीवालें ही देखने को मिलती थीं। कुशानों ने हमारी कला में वैदेशिक विचारधारा क्यों ली यह समझना सरल है। वे विचारधारा वैक्ट्रिया से, जिसमें उनके आक्रमण के समय ६० बड़े-बड़े हेलेनिक ढंग के बने हुए नगर थे, होकर भारत में आयी थीं। उनमें ग्रीस के यथार्थवाद का पर्याप्त पुट था। महायान की मूर्ति-कला तथा पौराणिक गाथाओं का भी इन पर प्रभाव पड़ा और इन्हीं प्रभावों के फलस्वरूप गाँधार कला का जन्म हुआ।

इस प्रकार कुशानों के उत्साह से पूरा उत्तरी भारत तीव्रगति से बौद्धों की दूसरी पवित्र भूमि मे बदल गया। महायान ने उत्तरी भारतवासियों को बौद्ध धर्म की असंख्य पौराणिक गाथाएँ दी और इन गाथाओं के स्मारक के रूप में यहाँ असंख्य स्तूप हो गए। इनके कारण उनके अवशेष जीवित रहे। परन्तु हूणों ने इस संस्कृति पर जबर्दस्त आघात किया। "बर्बरतापूर्ण शोर गुल करते हुए और घोड़ों की टापों की जोरदार आवाज़ के साथ हूण लोग इसी मार्ग से होकर एक भयंकर तूफान के समान आये और बड़े-बड़े मठों की शाँति को भंग करके अपने पीछे मृत्यु और खंडहर छोड़ कर वापस चले गए।"

## गुप्त काल

गुप्त सम्राटों के शासन काल में भारतीय संस्कृति तथा प्रतिभा खूब पल्लवित और विकसित हुई। इस सभ्यता को "भारत का आगस्टन युग", "भारत का पेरिक्लीयन युग" आदि भिन्न-भिन्न नाम दिया गया है। इस काल में भारत में एक नवीन लहर आयी। यह स्वर्णयुग तथा उच्चतम काल था जिसमें भारतीय संस्कृति ने बहुत पूर्णता तथा दृढ़ता प्राप्त की। यह युग भौतिकता एवं आत्मा, जीवन और धर्म तथा दर्शन एवं विज्ञान का समन्वय था। यह समन्वय वेदों से आयी हुयी हमारी संस्कृति के मौलिक विचारों से पूर्ण था। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में ऐसे अनेक मंत्र हैं जो मनुष्य को कार्य, लक्ष्य और हृदय के साथ सब में मिल जाने तथा सब का मित्र बनने की प्रेरणा देते हैं। ये मंत्र हमारे सामाजिक चिन्तन की मुख्य विचारधाराएँ भी देते हैं। इन मंत्रों में दिए गए समस्त सामाजिक चिन्तन की कुँजी यह है कि मनुष्य मंत्र नहीं वरन देवता है और समाज का मुख्य कार्य उसको सब प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करना है ताकि वह अपने वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवन के उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त कर सके। "संस्कृति तथा सामाजिक संघठन का कार्य जीवन के चारों लक्षों की एक-रूपता तक मनुष्य को ले जाना, उसको संतुष्ट करना तथा उसको सहायता देना है। इनका कार्य मनुष्य की इच्छा, उपभोग, भौतिक एवं आर्थिक सब लक्ष्यों की पूर्ति करना तथा कर्म, अर्थ, धर्म, मोक्ष के द्वार से उसकी अध्यात्मिक मुक्ति करना है। इस पर जोर डाला गया था कि अन्तिम लक्ष तक पहुँचने के पूर्व मनुष्य के तीन उद्देश्यों की पूर्ति आवश्यक थी जिससे कि मानवीय अनुभव एवं कार्य की पूर्णता उसको अध्यात्मिक मुक्ति के लिए तैयार कर दे और वह परिवार, देवताओं एवं समाज के ऋण से मुक्त हो जाय।

हमने जीवन का पूर्ण दर्शन किया। गुप्त कालीन संस्कृति सम्पत्ति कर्म, ज्ञान एवं भक्ति के प्राचीन हिन्दू समन्वय की पुष्टि है। अतः यह मानना भारी भूल है कि गुप्तकाल अतीत या नयी संस्कृति की प्रथमावस्था था। यह हमारे उच्चतम काल की रोशनी थी। हमारी यह प्रगति पूर्व काल की घटनाओं के कारण ही सम्भव हुई। अब हम निम्न रूप में गुप्त काल की मुख्य विशेषताओं का चित्रण करते हैं।

## सामाजिक स्थिति

जाति प्रथा एवं चारों आश्रम की व्यवस्था इस काल में भी समाज की रीढ़ थी। इसमें कुछ सीमा तक ढीलापन आ गया था। साधारणत: लोगों के विवाह–सम्बन्ध अपनी ही जाति में होते थे। परन्तु ऊँची जाति के लोग निम्न जाति से भी विवाह–सम्बन्ध करते थे। इस प्रकार के विवाहों को अनुलोप विवाह कहा जाता था। इस प्रकार के विवाह में वर कन्या से ऊँची जाति का होता था। ऊँची जाति की कन्या और उससे नीची जाति के वर के विवाह को प्रतिलोप विवाह कहा जाता था। इस प्रकार के विवाह समाज में बहुत कम होते थे। अंतर्जातीय विवाह भी हुए थे जिसके कारण विदेशी लोग हमारे समाज में मिल गए। सहभोज भी प्रचलित था परन्तु सीमित रूप में। जाति से ही व्यवसाय निर्धारित नहीं था। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण लोग व्यापारी एवं शिल्पी होते थे तथा नौकरी करते थे। वे राजा भी हुए। गुप्तवंश के सम्राट स्वयं वैश्य थे। क्षत्रिय लोग भी व्यापार एवं उद्योग करते थे। वैश्यों तथा शूद्रों में ऊँची जातियों से अधिक उपजातियाँ थीं। समकालीन लेखों में व्यावसायिक लेखकों के रूप में कायस्थों का भी उल्लेख है। शूद्र लोग भी व्यापार तथा वैश्यों की भाँति खेती करने लगे थे। वे अस्पृश्य होते थे और मुख्य बस्ती के बाहर रहते थे। वे लोग नगर में प्रविष्ट होते समय लकड़ी का एक टुकड़ा पीटा करते थे ताकि लोग उनका आना जान लें और उनसे बचें। वे लोग शिकार, मछली का शिकार, सफाई आदि इसी प्रकार के अन्य नीच काम करते थे।

ब्राह्मणों का बड़ा सम्मान था। क्षत्रियों के साथ उनके सम्बन्ध मैत्री एवं सौहार्द्रपूर्ण थे। वेदों के आधार पर ब्राह्मणों में कई शाखाएँ हो गई थीं। उदाहरणार्थ उड़ीसा, तेलिंगाना, कोशल एवं मध्यप्रान्त यजुर्वेदी ब्राह्मणों के केन्द्र स्थान थे। इसी प्रकार सम्भवत: उत्तर प्रदेश तथा काठियावाड़ सामवेदी, मैसूर, बेलगाम, वल्लभी तथा काँगड़ा घाटी में अथर्ववेदी ब्राह्मणों के केन्द्र हो गए थे। ऋग्वेदी ब्राह्मणों के विषय में बहुत कम तथ्य मिलते हैं और वे हमारे लेखों में कहीं–कहीं मिलते हैं। क्षत्रियों को पुरानी सुविधाएँ भी प्राप्त थीं और उन्हें 'द्विज' का स्तर प्राप्त था। वैश्यों की भी यही स्थिति थी जो अपने गोत्रों एवं प्रवरों को भी जानते थे। वैश्य लोग अपनी दानशीलता के लिए प्रसिद्ध थे। (गोत्र एक वंश–शाखा का विशिष्ट नाम है। प्रत्येक गोत्र में उस वंश-

शाखा के पूर्वजों–ऋषि–मुनियों–के नाम से प्रवर होते हैं। अंगिरास, वृहस्पति, भारद्वाज आदि के नाम से प्रवर होते हैं। एक ही प्रवर में विवाह–सम्बन्ध करने की आज्ञा नहीं थी)

नारद स्मृति में दास–प्रथा का उल्लेख आया है। प्रायः युद्ध–बंदियों को दास बना लिया जाता था। ऋण लेने के बाद ऋण न चुकाने वाले लोगों को भी ऋणदाताओं का दास बनना पड़ता था। किन्तु यह दासत्व जीवन भर के लिए नहीं होता था। दास लोग फिर से स्वतंत्र हो सकते थे। इन दासों के साथ पश्चिम के दासों से अच्छा व्यवहार किया जाता था। उचित समारोहों के आयोजन करने के बाद दास लोग स्वतंत्र होते थे। संयुक्त परिवार व्यवस्था हिन्दू जीवन की मौलिक विशेषता के रूप में अब भी जारी थी। पिता के जीवित रहते हुए उसकी सम्पत्ति का बटवारा मान्य नहीं था। सम्पत्ति की मिल्कियत पिता की रहती थी परन्तु उसमें पुत्रों और भाइयों के अधिकारों को भी मान्यता प्राप्त थी। यह अधिकार स्त्रियों को तभी मिलते थे जबकि उसके पिता के कोई पुत्र न हो। गोद लेने की प्रथा को अधिक मान्यता नहीं थी। विधवा के उसके पति की सम्पत्ति में भाग के विषय में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण थे। अधिकाँशतः वह गुजारे की हक़दार होती थी। बाल–विवाह बहुत प्रचलित था। १२ या १३ वर्ष की अल्प आयु में ही लड़कियों के विवाह हो जाया करते थे। स्वाभाविक रूप में यह प्रथा चल पड़ी कि स्त्रियाँ अपने विवाह के विषय में कुछ भी न कह सकें। स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने की आज्ञा थी परन्तु वे वेदों के मंत्रों का पाठ नहीं कर सकती थीं। उच्च जातियों में पर्दे की प्रथा आरम्भ हो रही थी। स्त्रियों का जीवन अब भी अरुचिपूर्ण नहीं था। वे घर की मालिक थीं। विधवा–विवाह भी प्रायः होते थे। इस काल में सती होने की प्रथा का भी उल्लेख मिलता है किन्तु उनकी संख्या नगण्य थी। समकालीन चित्रों में जैसा दिखाया गया है, स्त्रियाँ समाज में खुलकर विचरण करती थीं। हमें यहाँ इस बात को न भूलना चाहिए कि स्त्रियाँ आदर्शरूप में शक्ति मानी जाती थीं। वे सरस्वती तथा काली अर्थात् रचयित्री तथा संहारकारिणी दोनों ही थीं। माता एवं मातृभूमि को स्वर्ग से भी अधिक पूज्य माना गया है। मनु के अनुसार "जब स्त्रियों का आदर होता है, देवतागण प्रसन्न होते हैं ; जहाँ उनका आदर नहीं होता, सब कार्य व्यर्थ ो जाते हैं।" अस्तु, गुप्तकाल में

स्त्रियों को पूर्ण स्वतंत्रता थी, तथा वे श्रद्धा और सम्मान की पात्र थीं।

समाज अत्यधिक समृद्धिशाली था। वस्त्र–परिधान आदि के सम्बन्ध में ऊपरी शरीर पर एक वस्त्र (पोशाक) तथा नीचे धोती पहनते थे यद्यपि स्काइथियनों ने कोट, ओवरकोट, पायजामा आदि, जिन्हें भारतीय नरेश प्रायः पहनते थे, प्रचलित कर दिया था। शुभ अवसरों पर सिर पर टोपी जैसी कोई परिधान धारण किया जाता था।

स्त्रियाँ या तो पेटीकोट और उसके उपर साड़ी या इतनी लम्बी साड़ी पहनती थीं जो दोनों का काम करती थी। साड़ी के नीचे सीने पर बाडी (चोली) पहनी जाती थी। सीथियन स्त्रियां जैकेट, ब्लाउज और फ्राक़ पहनती थीं। उत्सव–समारोहादि के अवसरों पर रेशम के वस्त्र पहने जाते थे। स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार के आभूषण पहनती थीं। अधिकाँश आभूषण सिर के अगले भाग (मस्तक के ऊपर) में पहने जाते थे। करनफूल (इयरिंग), नेकेलेस आदि विभिन्न प्रकार के आभूषण प्रचलित थे। सीना और जाँघों में नाना प्रकार के मेखात तथा चमकीले मोती के गहने पहने जाते थे। बाजूबंद, चूड़ियाँ, अंगूठी, बिछिया आदि गहने भी पहने जाते थे। नथुनी का अभी तक प्रचलन नहीं हुआ था। पुरुष लोग भी आभूषण पहनते थे।

बालों के संवारने के अनेकानेक ढंग प्रचलित थे उनमें कई ढंग ऐसे भी थे जिनसे आधुनिक स्त्रियों को ईष्या हो सकती है। भिन्न–भिन्न कलापूर्ण रूपों के लिए नकली (कृत्रिम) बालों का भी उपयोग होता था। रंगों, क्रीम, पाउडर, लिपस्टिक, आदि का उपयोग लोग नहीं जानते थे।

अनेक स्थानों तथा संस्थाओं में पानी की घड़ी का उपयोग होता था। यह घड़ी एक ऐसे छोटे बर्तन की होती थी जो पानी से भरे हुए एक बड़े बर्तन में तैरती रहती थी। यह बर्तन २४ मिनट (घटिकाओं) में बड़े बर्तन से भरे हुए पानी के धीरे–धीरे आने से भर जाता था। उस बर्तन के पेंदे में एक छोटा सा छिद्र होता जिससे होकर पानी उसमें धीरे-धीरे जाता था। इस बर्तन के भर आने पर तुरन्त उसे खाली करने और तैराने के लिए एक आदमी का रहना आवश्यक था।

शतरंज और पाँसे के खेल का बहुत प्रचलन था। लोग इन घरेलू खेलों तथा शिकार, भेड़ों की लड़ाई, कौवों की लड़ाई तथा गेंद खेलने

के बड़े शौक़ीन थे। मेला प्रदर्शन, नाटक आदि मनोरंजन के अन्य कई साधन भी प्रचलित थे।

अस्तु, इस युग की सामाजिक दशा हमारे समक्ष पूर्ण समृद्ध एवं सुखी जीवन यापन करने वाले लोगों का चित्र प्रस्तुत करती है। उस समय भारतवर्ष की यात्रा करने वाले चीनी यात्री फाहियान के शब्दों में "उस समय भारत की जनसंख्या अधिक थी और लोग सुखी थे। उनको अपनी सम्पत्ति का विवरण सरकार को नहीं देना पड़ता था और उन्हें किसी हाक़िम या उसके नियमों को नहीं मानना पड़ता था। राजा बिना मृत्युदण्ड या शारीरिक दण्ड के शासन करता था। कई धर्मों के लोगों ने ऐसे स्थान जगह-जगह पर बनवा दिए थे जहाँ यात्रियों के लिए कमरा, बिस्तर, पानी, भोजन आदि का प्रबन्ध रहता था।" फाहियान ने चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन के समय में भारत की यात्रा की थी।

## आर्थिक दशा

मौर्य काल की भाँति इस में भी भारत की आर्थिक क्षेत्र में भारी प्रगति जारी रही। इस काल में भारत के लोगों ने अनेक विदेश-यात्राएँ की और भिन्न-भिन्न देशों में भारत की संस्कृति के पौधे लगाए। ये लोग भारत की अनेक वस्तुएँ विदेशों में ले गए और उनका वहाँ विनिमय किया या विक्री किया। इस प्रकार इन लोगों ने भारतीय व्यापार-वाणिज्य के प्रतिनिधि का काम किया। अतीत की भाँति इस काल में भी व्यापारिक एवं औद्योगिक संघों का संगठन हुआ। ये संघ बैंकिंग का कारबार भी करते थे और इनको स्थाई अमानतें भी मिलती थीं जिनका ब्याज इन्हें नियमित रूप में मिलता था। इन संघों का नियंत्रण एक सभापति और ४ या ५ सदस्यों की एक छोटी कार्यकारिणी समिति करती थी।

इस काल में जो शांति-व्यवस्था तथा समृद्धि व्याप्त थी उससे अंतप्रान्तीय तथा अंतर्राज्य व्यापार को बहुत शक्ति मिली और इन व्यापारों के नियंत्रण व देखरेख तथा संचालन के लिए संस्थाओं के बड़े-बड़े महासंघ संगठित हुए जिनके प्रमाण बसाढ़, प्राचीन वैशाली, में प्राप्त मुद्राओं में मिलते हैं। इन व्यापारिक संघों ने कभी-कभी मन्दिरों का भी आर्थिक प्रबन्ध किया और सरकार को धन सहायता दी। साझे के व्यापार का

भी बहुत अधिक प्रचलन था। कुछ व्यापारिक संघों के पास अपने सदस्यों की, उनकी सम्पत्ति एवं व्यापार सम्बन्धी सामग्रियों की रक्षा के लिए छोटी सी सेना भी रहती थी। विभिन्न प्रकार के कपड़ों, खाद्यान, मसाला, नमक, चाँदी, बहुमूल्य जवाहरात आदि का व्यापार होता था। व्यापार स्थल तथा नदियों के मार्ग से होता था। भड़ोंच, उज्जयिनी, पैथान, विदिसा, प्रयाग, बनारस, गया, पाटलिपुत्र, वैशाली, ताम्रलिप्त, कौसाम्बी, मथुरा, अहिच्छत्र तथा पेशावर आदि मुख्य-मुख्य नगर सड़कों के द्वारा परस्पर सम्बन्धित थे। गाड़ियों तथा जानवरों पर माल एक स्थान से दूसरी जगह आते-जाते थे। गंगा, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी आदि नदियों से होकर व्यापारिक जलमार्ग प्रचलित था। जहाज़ बनाए जाते थे। ताम्रलिप्त (वर्तमान तामलुक) बंगाल का मुख्य बन्दरगाह था और यहाँ से होकर चीन, लंका, जावा तथा सुमात्रा तक व्यापक व्यापार होता था। दक्षिणी बन्दरगाहों से होकर 'पूर्वी द्वीपसमूह', चीन तथा पश्चमी एशिया से व्यापक व्यापार होता था। इन बन्दरगाहों पर व्यापार के लिए रोम तक के जहाज़ आते थे। मोती, बहुमूल्य रत्नादि, कपड़े, इत्र-तेल, मसाला, नील, रसायनिक द्रव्य नारियल, हाथी दाँत की वस्तुएँ आदि निर्यात की मुख्य वस्तुएँ थीं। इसी प्रकार सोना, चाँदी, टीन, जस्ता, रेशम, कपूर, खजूर, घोड़े आदि आयान की मुख्य चीज़ें थीं। प्राकृतिक धन में मुख्य गेहूँ, चावल, गन्ना, पटसन, तिलहन, कपास, ज्वार, बाजरा, मसाला, सुपाड़ी, औषधियों के द्रव्य, जंगलों की पैदावार तथा जवाहरातों की खानें आदि चीज़ें थीं। उद्योगों में वस्त्रोद्योग सबसे प्रमुख था। बाद में शिल्प, हाथी दाँत के काम, चित्रकारिता, रंगने का काम, लोहारी-सोनारी, जहाज़ों के बनाने आदि के उद्योग प्रचलित हो गए। कहा जाता है कि इस समय एक व्यक्ति का मासिक खर्च केवल दो रुपया था। इस प्रकार गुप्तकाल में रहन-सहन बहुत अधिक सस्ता था।

खेती लोगों का मुख्य व्यवसाय थी। बंगाल या उत्तर प्रदेश की आधुनिक जमींदारी प्रथा जैसी कोई वस्तु इस काल में नहीं थी। खेत न जोतने वाले जमीन्दार के खेतिहरों को कुल पैदावार में ३३ से लेकर ५० प्रतिशत तक का भाग मिलता था। भूमि को सबसे कीमती सम्पत्ति माना जाता था और इसका स्थानांतरण गांव वालों तथा गाँव या क़स्बे की परिषद की स्वीकृति से ही हो सकता था। अनुर्वर या बंजर भूमि राज्य की सम्पत्ति मानी जाती थी। विभिन्न गाँवों में राज्य की कृषि योग्य भूमि भी होती थी जिसे 'राज्यवस्तु' कहा जाता था। इस भूमि

में प्रायः लगान न अदा करने पर तथा उत्तराधिकारी न होने पर जब्त की गई सम्पत्ति होती थी। इस प्रकार, सामान्यतः "कृषियोग्य भूमि का मालिक राज्य नहीं बल्कि और परिवार होते थे।"

ऊपर जो तथ्य दिये गये हैं उनमें भारत को आर्थिक दृष्टि से महान् एवं धनवान देश दिखाया गया है और यह भी दिखाया गया है कि भारत का विदेशों से अत्यधिक व्यापारिक सम्पर्क था। भारतीय संस्कृति पर आर्थिक समृद्धि की ऐसी प्रति क्रिया हुयी जिससे लोगों को प्रर्याप्त विश्राम मिला और जीवन की सुन्दर कलाओं की चर्चा करने का अवसर मिला।

## धर्म और दर्शन

इसकाल में ब्राह्मणवाद की पुनर्जागृति हुयी। हिन्दू समाज में पुनः पुराने विश्वासों और सिद्धांतों को स्थान मिला। इस काल ने हिन्दू समाज को छः दर्शनों के रूप में महान् दर्शन दिया। नये हिन्दू धर्म में आर्य और द्रविड़ नामक दो मुख्य जातियों से प्राप्त आदर्शों एवं सिद्धाँतों का सम्मिश्रण हुआ। निराकार ईश्वर के सिद्धांत के स्थान पर शिव, विष्णु, देवी आदि अनेक नामों के साकार ईश्वर का सिद्धाँत आ गया। मूर्ति पूजा तथा मन्दिरों के निर्माण का आमतौर पर प्रचलन हो गया। पूजा—पाठ, उत्सव, कर्मकाण्ड आदि का खूब प्रचार हो गया।

गुप्तकाल को ब्राह्मणवाद की पुनर्जागृति का युग माना जाता है। इस काल को चेतना के बजाय बसन्त के बहार तथा रोशनी का युग कहना अधिक उचित होगा। गंगा की घाटी में ब्राह्मणवाद का पुनः प्रसार पुष्य-मित्र के समय से हुआ और दक्षिण में कई राज्य—परिवारों ने बार—बार बाजपेय तथा अश्वमेध जैसे वैदिक कर्मकाण्ड करने में गर्व का अनुभव किया। शैव तथा वैष्णव धर्म जैसे धर्मों का भी प्रचार था। गुप्त सम्राटों के पहले के विदेशी राजा लोग भी शैव तथा भागवत नामक हिन्दू धर्मों के अनुयायी थे।

## भक्ति

इसकाल में धर्म के क्षेत्र में भक्ति तथा सब प्राणियों के प्रति प्रेम का महत्व बढ़ता जा रहा था। धार्मिक कार्यों तथा दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता में यह प्रकट हुआ। साकार रूप में ईश्वर की अत्य-

धिक भक्ति गीता तथा श्वेताश्वतार उपनिषद् में दिखाए गए वैष्णव तथा शैव धर्म का मुख्य तत्व है। इस प्रकार, इस में ब्राह्मणवाद ने उच्चकोटि के स्वरूप धारण किये और इस पर कर्म, मोक्ष तथा निर्वाण: में विश्वास (बौद्धधर्म) का भी प्रभाव पड़ा। बौद्धधर्म के तत्कालीन प्रचलित स्वरूप महायान का भी ब्राह्मणवाद के विचारों पर कुछ प्रभाव पड़ा। इसकाल के लोगों में अंधविश्वास आदि थे तथा ताँत्रिक दर्शन भी था और इसके पूजा–पाठ की अपनी विधियाँ थीं। इन सब प्रभावों के सम्मिश्रण से हिन्दू धर्म का आधुनिक स्वरूप बना। इस धर्म की दो मुख्य विषेषताएँ हैं। एक तो मानवता के रक्षक (ईश्वर) के अवतारों में विश्वास तथा दूसरी भक्ति जो मनुष्य को परमात्मा से मिलाने का एकमात्र पवित्र साधन है।

## शैव तथा वैष्णव धर्म

शिव के भक्तों तथा उनकी पूजा करने वालों के अनुसार शिव महान् देवता तथा ईश्वर हैं। ये अंशत: वैदिक अंशत: ताँत्रिक हैं। रुद्र नामक वैदिक देवता, जो पशुओं का संहार और रक्षा दोनों करते थे, को शिव माना गया है। तंत्रवाद में शिव को संतानोंत्पत्ति का ईश्वर माना गया है और इसमें लिंग के रूप में इनकी पूजा की जाती है। अब शिव की पूजा अनेक स्वरूपों में होती है जिसके फलस्वरूप शैव धर्म के अनुयायियों की भी कई शाखाएँ हो गईं।

भक्ति के एक अन्य रूप का प्रतीक वैष्णव धर्म के उदय में प्रतिबिंबित हुआ जिसमें विष्णु को मुख्य देवता माना गया है। इस काल में वासुदेव तथा कृष्ण के रूपों में विष्णु–पूजा की गयी। वेदों एवं उपनिषदों में विष्णु के विषय में उल्लेख आये हैं। वासुदेव भी प्राचीन देवता हैं। ईसा–पूर्व पाँचवीं शताब्दी में पाणिनि ने वासुदेव का और अर्जुन के रूप में वासुदेव तथा अर्जुन नामक महाभारत के वीरों की पूजा करने वालों का उल्लेख किया है। ईसा–पूर्व द्वितीय शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में तक्षशिला के ग्रीक हेलियोडोर्स ने ग्वालियर के दक्षिण में उसी वासुदेव के सम्मान में बेसनगर का स्तंभ बनवाया था। छान्दोग्य उपनिषद् में भी वासुदेव का उल्लेख आया है। और अब वासुदेव कृष्ण का ही एक दूसरा नाम है जिसका उल्लेख पातञ्जलि ने अपने 'महाभाष्य' में ईसा के पूर्व द्वितीय शताब्दी में किया है। वासुदेव को ब्राह्मण काल में नारायण भी कहा जाता था। इससे पहले के विवरणों में कृष्ण

की बाल्यवस्था के विषय में कोई भी साम्रगी नहीं मिलती। विशेषतया पुराणों में ही वालकृष्ण के रूप में नये कृष्ण का नाम मिलता है जो बाल्यावस्था में बड़े नटखट तथा युवावस्था में आकर्षक युवक, ग्वालों तथा गड़ेरियों (चरवाहों) के सहचर थे। इस नये कृष्ण ने तीव्रगति से अपने लाखों भक्त बना लिए। फिर शैवधर्म की भाँति वैष्णवधर्म या कृष्णपूजा के भी कई सम्प्रदाय हो गये। गुप्तकाल में सार्वजानिक मंदिरों में पूजा करने का खूब प्रचलन हो गया। मन्दिर हिन्दूधर्म एवं संस्कृति के केन्द्र बन गए। मन्दिरों के निर्माण, सजावट तथा समारोहों ने शिल्पी, इमारत बनाने वालों, चित्रकारों, संगीतज्ञों, नृत्य करने वालों, पौराणिकों एवं दार्शनिकों को प्रगति करने का अवसर तथा क्षेत्र दिया। हिन्दू पूजा-पाठों तथा प्रचलित विश्वासों का खूब विकास हुआ और एकादशी आदि व्रतों का प्रचलन हुआ।

इसी सयय ताँत्रिक धर्म के रूप में भारतीय धर्म में एक मननीय विकास हुआ। इस धर्म का जन्म भी वेदों के समय तथा इससे भी पूर्व सिन्ध-घाटी-सभ्यता के काल में बताया जाता है। कहा जाता है कि ताँत्रिक सिद्धान्त, नाम, स्वरूप तथा प्रतीक वेदों की ऋचाओं की सम्मिलित एकता, एकरूपता, विश्वव्यापकता तथा संयोगात्मकता के ठोस प्रमाण थे। ताँत्रिक धर्म भारतीय भावना (आत्मा) का एक महत्वपूर्ण विकास तथा भारत में अध्यात्मिक चेतना का एक दूसरा संकेत है। गुप्तकाल में इसके कई ग्रन्थ, जिसमें 'चन्डी' भी शामिल है, बंगाल में लिखे गए थे। इस धर्म का भी उद्देश्य मनुष्य को दैवत्व तक पहुँचाना था जैसा कि वेदों में दिखाया गया है। यह धर्म जीवन को ईश्वर का एक मायापूर्ण खेल मानता है और इस खेल का ऐसा उद्देश्य मानता है जिसकी पूर्ति केवल मनुष्य में ही सम्भव है। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जिसको उसमें निहित चेतना-शक्ति तक पहुँचने की अद्भुत सुविधा प्राप्त है। और जब शरीर के अन्दर सोती हुई वह शक्ति (कुन्डलिनी) जागती है तब वह अन्य शक्तिओं के चक्रों से होकर ऊपर की ओर चलती है। अन्य शक्तियां उसे अपनी अपनी शक्ति से गति देती हैं जिससे नवीन शक्ति उत्पन्न होती है और उसमें समस्त शक्तियाँ विलीन हो जाती हैं। तत्पश्चात् मनुष्य ऐसी स्थिति में जा पहुँचता है जहाँ उसे उच्चतर चेतना प्राप्त हो जाती है। ताँत्रिक साधना में महामाया (शक्ति) की इच्छा पर अपने को बिल्कुल छोड़ देना अत्यावश्यक है। तंत्रों का लक्ष्य न

केवल मुक्ति पाना या ब्रह्म में लीन होना है अपितु पाँच प्रकारों की सर्वोच्च शक्ति के इस सृष्टि के खेल के आनन्द का मुक्त उपभोग करना भी है। इस प्रकार ताँत्रिक लोग जीवन में और गहराई तक पहुँचे थे और उन्होंने आत्मा के साथ एकता प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। बाद में ताँत्रिक धर्म का अन्त हो गया और वह केवल अदृश्य रहस्यवाद मात्र बन कर रह गया। तंत्र ने शक्ति की पूजा का आधार दिया। इसमें ईश्वर और प्रकृति की पूजा स्त्री के स्वरूप में की गई थी और इनको शक्ति का प्रतीक माना गया था। इसके फलस्वरूप हमारे बीच में अष्टभुजा, दुर्गा, काली, चन्डी तथा अन्यान्य देवियाँ आयीं। इस प्रकार ईश्वर या निराकार ब्रह्म विभिन्न नामों की मातृशक्ति या महाशक्ति के द्वारा इस जगत में सक्रिय एवं गतिशील हुआ।

## दर्शन

गुप्तकाल ने भारत को पूर्व मीमाँसा, वैशेषिक, न्याय, वेदान्त, योग तथा साँख्य नामक छः महान दार्शनिक व्यवस्थाएँ दी हैं।

## मीमाँसा

मीमाँसा का अर्थ तर्क करना है। किसी शब्द या वाक्य के अर्थ को समझने के लिए तर्क करना पड़ता है। इस शब्द के आगे 'पूर्व' इसलिए जोड़ा गया क्योंकि इसमें वेदों के पूर्व भाग के कर्मकाण्ड (पूजा-पाठ) सम्बन्धी तर्क की प्रणाली पर विचार किया गया है। अस्तु, इस व्यवस्था का विषय वैदिक पूजा-पाठ, कर्मकाँण्डों का अध्ययन है। इस दर्शन में वैदिक कर्मकाण्डों के स्वरूप, उनके प्रारंभिक एवं माध्यमिक चरित्र, उनके फल एवं उद्देश्य पर विचार किया गया। इसमें इसका भी अध्ययन किया गया है कि किस कर्मकाण्ड को पहले और किसे बाद में सम्पन्न करना चाहिए। इस प्रकार, इस दर्शन के अनुसार मुक्ति प्राप्त करने के हेतु, इन कर्मकाण्डों का सम्पन्न करना आवश्यक है।

## वैशेषिक

वैशेषिक के सूत्र सब से पुराने दार्शनिक सूत्र हैं। इस दर्शन में अणु सम्बन्धी सिद्धाँत दिया गया है। मिट्टी, जल, अग्नि और वायु आदि चार प्रकार के अणु हैं। मिट्टी का सुगन्ध, जल का स्वाद, अग्नि का रंग तथा वायु का स्पर्श गुण है। इस दर्शन में मुक्ति

की प्राप्ति का स्पष्ट सिद्धान्त देने का प्रयास किया गया है। इस सूत्र से यह ज्ञात होता है कि सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी व्यक्तियों ने वेदों को लिखा है। इस दर्शन के अनुसार ईश्वर सभी वस्तुओं का सृष्टिकर्ता है तथा सब पर वह नियंत्रण करता है। सब प्राणी अपने पिछले जीवन के कार्यों से फल का अनुभव करें इसलिए ईश्वर के मस्तिष्क में इस जगत की पुनः सृष्टि करने की इच्छा होती है। जब ईश्वर में यह इच्छा उत्पन्न होती है तब वह समस्त जीवों में जीवन सम्बन्धी शक्तियों को गतिशील करता है जो विभिन्न अणुओं पर अपना कार्य करने लगती हैं जिसके फलस्वरूप इस जगत की सृष्टि होती है। इस व्यवस्था के अनुसार जब कोई ज्ञानी तथा बुद्धिमान मनुष्य निःस्वार्थ भाव से पुणय करता है तब उसका जन्म पवित्र परिवार में होता है। इस परिस्थिति में उस मनुष्य में क्रमशः मुक्ति की इच्छा उत्पन्न होती है तथा विभिन्न चरण से गुजरते हुए वह मुक्ति प्राप्त करता है और फिर उसे शरीर नहीं धारण करना पड़ता है। यह व्यवस्था हमें ज्ञान प्राप्त करने तथा निर्णय करने के सही नियम देती है।

## न्याय

वैशेषिक को न्याय–व्यवस्था का, जिसमें वह ११ वीं शताब्दी में विलीन हो गई, पूरक माना जाता था। न्याय दर्शन में तर्क विद्या की कला दी गई है। इसके अनुसार वह मनुष्य मिथ्याज्ञान, पाप, कार्य, जन्म तथा पीड़ा से दूर रहता है जो सही ढंग पर तर्क करता है। इस प्रकार उचित रूप में तर्क करने से मुक्ति हो जाती है। इस दर्शन में ज्ञान या तर्क करने के विभिन्न नियम दिए गए हैं जैसे कि बोध एवं प्रमाण, उपमान तथा शब्द। यह व्यवस्था हमें एक प्रकार का न्याय देती है। उदाहरणार्थ, एक पर्वत पर अग्नि (प्रतिज्ञा) है, क्योंकि उस पर्वत पर धुआँ है (हेतु)। प्रत्येक वस्तु जिसमें धुआँ है उसमें अग्नि है। किन्तु यह यहाँ ऐसा है (उपनाम) इसलिए यह ऐसा है (निगमानय)। वैशेषिक तथा न्याय दर्शनों में उनके यथार्थवाद का अन्तर है।

## वेदान्त

इसको उत्तर मीमाँसा या वेद का अन्त कहा जाता है। यह भारतीय दर्शनों में सबसे अधिक प्रसिद्ध है। शंकराचार्य के अनुसार वेदाँत इस जगत–बंधन से आत्मा की मुक्ति पर जोर देता है, यह दृढ़तापूर्वक इस

जगत को भ्रम जाल (माया) मानता है। यह संसार के परित्याग की शिक्षा देता है। प्रत्येक मनुष्य धीरे–धीरे और अपने ढंग से संसार से विरक्ति प्राप्त कर सकता है। ब्रह्म या ईश्वर ही केवल यथार्थता है। ब्रह्म को आंतरिक रूप में पहचान लेने से ही मुक्ति हो जाती है और कुछ समय बाद यह जगत भंग हो जाता है। वेदाँत में यथार्थवाद से अधिक आदर्शवाद है और इसमें कार्य से अधिक ज्ञान तथा पूजा–पाठ से अधिक सोच–विचार पर जोर दिया गया है। लोगों ने इस दर्शन की विभिन्न रूप में व्याख्याएँ की हैं। बद्रायण ने अपने "ब्रह्मसूत्र" में जो व्याख्या की है वह सबसे अधिक प्रसिद्ध है। वेदाँत को अद्वैतवाद भी कहा गया है अर्थात् ईश्वर तथा भूत दो नहीं बल्कि ईश्वर या ब्रम्ह एक ही है। हमें हर वस्तु में ईश्वर का दर्शन करना चाहिए और उसके साथ एक हो जाना चाहिए। यह साधुवादी दर्शन है। बाद में इसमें कई संशोधन किए गए जिसके फलस्वरूप रामानुज, माध्व, निम्बार्क, तथा वल्लभ सम्प्रदाय हो गए। उपनिषदों में भी यह दर्शन पाया जाता है। इस दर्शन ने पश्चिमी विद्वानों को बहुत आकर्षित किया है।

## योग

योग–सूत्र पातञ्जलि का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। ये पातञ्जलि ईसा–पूर्व द्वितीय शताब्दी के वैयाकरण पातञ्जलि के अलावा कोई और विद्वान् होंगे। योग–सूत्र अनुमानतः ईसवी सन् की पाँचवी शताब्दी में लिखा गया था। योगदर्शन में मनोविज्ञान के गहनतम विचार तथा मुक्ति प्राप्त करने के नियम–बद्ध तरीके दिए गए हैं। ये तरीके योग के निम्नलिखित आठ चरण या योगाँग हैं:—

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान, तथा समाधि। उक्त नियमों की सहायता से मस्तिष्क पवित्र, जागृत तथा नियंत्रित हो जाता है। इसके बाद ही मनुष्य किसी चीज को सही रूप में समझ सकता है। और तब तप या समाधि के द्वारा योग अथवा ईश्वर में मिल जाने का प्रयास किया जा सकता है। पातञ्जलि ने ईश्वर में मिल जाने के लिए सभी बातों को ईश्वर पर पूर्णतः छोड़ देने को बड़ा महत्वपूर्ण तरीका बताया है।

## सांख्य

साँख्य और योग एक दूसरे के पूरक माने जाते जाते हैं। साँख्य सैद्धा-

न्तिक तथा योग व्यावहारिक है। सांख्य-दर्शन पुरुष और प्रकृति जैसे भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट द्वैतवाद पर आधारित है। पुरुष ईश्वर तथा प्रकृति स्वभाव का नाम है। प्रारंभिक रूप में इस सृष्टि में पुरुष का स्थान है। इससे प्रकृति निकली है। प्रकृति के सत्व, राजस, तमस, तीन गुण हैं जो हर वस्तु में असमान रूप में मिश्रित हैं। आगे चल कर इसके आकाश, वायु अग्नि, जल, मिट्टी, स्वर, सम्पर्क, स्वाद, आकार तथा सुगन्धि आदि कई विभाजन हो गए। साथ ही सुनने, स्पर्श करने, देखने, स्वाद लेने, सूँघने, स्वर, हाथ-पैर, खाली करने तथा संतानोत्पत्ति करने की इन्द्रियाँ भी आ गयीं। इनको अहंकार और बुद्धि से सम्बन्धित कर दिया गया है। ये २४ सिद्धान्त इस सृष्टि के उलट-पलट के आधार हैं।

इस प्रकार, गुप्तकाल में भारतवर्ष दर्शन के क्षेत्र में सर्वोच्च स्तर पर पहुँचा था। परन्तु हमारा दर्शन केवल मात्र कल्पना या व्यर्थ चिन्तन नहीं था। आत्मा के जीवन-उच्चतर जीवन-से सम्बन्धित कुछ निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए ये दर्शन निकाले गए थे। इसलिए हमारे दार्शनिक साधनारत ऋषि थे और उन्होंने हमें मुक्ति या मोक्ष का दर्शन दिया। इसलिए हमारा दर्शन गतिशील था। जो कार्य मनुष्य को दास बनाते हैं वे वे कार्य हैं जिन्हें वह बिना पूर्ण ज्ञान के करता है। जो कार्य वह उक्त दर्शनों में निहित ज्ञान से करता है वह उसे केवल दासत्व से मुक्ति ही नहीं देता बल्कि उसको स्वतंत्रता देता है। भारत का लक्ष्य नाकारात्मक नहीं वरन् ठोस और सकारात्मक तथा मानवता को मुक्ति करने का था। भारत ने मानवता को अपने को मुक्त करने के लिए स्वाध्यायका पाठ दिया है।

## शिक्षा

अतीतकाल से ही भारतवर्ष में शिक्षा का क्षेत्र वैयक्तिक रहा है। अध्यापक (गुरु) लोग अपने घर पर विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे और विद्यार्थियों से उनको जीविका मिलती थी। राज्य या सार्वजनिक संस्थाओं से भी उनको अनुदान मिलते थे। पुरोहिती (पंडिताई) का काम करके भी वे अपनी आय करते थे। पवित्र स्थान (तीर्थ) तथा विभिन्न राज्यों की राजधानियाँ विद्या के केन्द्र थे जहाँ उनकी अच्छी आय होती थी। राजधानियों में पाटलिपुत्र, वल्लभी, उज्जयिनी एवं पद्मावती तथा तीर्थों में अयोध्या, बनारस, मथुरा, नासिक तथा कांची विद्या के प्रसिद्ध केन्द्र

थे। इसकाल में तक्षशिला का पूर्णतः पतन हो चुका था। अग्रहार गाँव भी थे जिनमें विद्वान् ब्राह्मण लोग रहते थे और सरकार द्वारा इन गाँवों की आय (राजस्व) उन्हीं ब्राह्मणों के नाम उनके गुजारे के लिए कर दी गयी थी। इन अध्यापकों के पास विद्या-अध्ययन के लिए दूर-दूर से लोग आते थे। दक्षिण भारत में घटिका नामक कई विद्या-केन्द्र थे जहाँ संभवतः स्नातकोत्तर शिक्षा दी जाती थी।

व्यावसायिक तथा कला-कौशल सम्बन्धी शिक्षा घर पर ही लोग पाते थे क्योंकि अधिकाशतः व्यवसाय पैतृक होते थे। कभी-कभी कारीगर लोग बाहरी शिक्षार्थियों को भी अपने पास रख लिया करते थे। वे उनके पास रह कर काम सीखते थे। प्रारंभिक शिक्षा के विषय में बहुत थोड़ा विवरण मिलता है। यह शिक्षा सम्भवतः ५ वर्ष की आयु से प्रारम्भ होती थी और उन अध्यापकों द्वारा दी जाती थी जिनको दारकाचार्य कहा जाता था। अनेक गाँवों में लिपिशाला या प्रारंभिक विद्यालय भी थे। बच्चे लोग लकड़ी की पट्टी पर रंग से या जमीन पर अंगुली से लिखा करते थे। ऐसी जमीन पर बालू और धूल रहती थी।

परन्तु, अधिकाँशतः बौद्धों द्वारा स्थापित किये गये मठों के शिक्षालय सबसे प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र थे। इन केन्द्रों ने लोगों का एक रूपी साँस्कृतिक जीवन बनाने में महत्वपूर्ण योग दिया। वैदिक भारत में ऋषियों की कुटियों, जहाँ सभी जगहों के विद्यार्थी आते थे, के समान ही ये विद्या-केन्द्र भी थे। महाभारत में नैमिष वन में एक ऐसे ही विद्या-केन्द्र का उल्लेख है जिसके अध्यक्ष या कुलपति शौनक ऋषि थे। गुप्त-काल के पूर्व तक्षशिला, बनारस, उज्जयिनी तथा अमरावती विद्या के अन्य प्रसिद्ध केन्द्र थे। हम इन केन्द्रों के सार के रूप में नालंदा को लेकर उसकी कुछ विशेषताओं का चित्रण कर रहे हैं।

नालंदा अंतर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय था। जहाँ एशिया भर के विद्यार्थी आते थे। यह विश्वविद्यालय मगध में था। यह तत्कालीन विश्व का सबसे बड़ा विश्व-विद्यालय था जहाँ भारतवर्ष के अलावा चीन, जापान, कोरिया, जावा, सुमात्रा, तिब्बत, मंगोलिया, बुखारा जैसे दूर-दूर के देशों के विभिन्न जातियों तथा धर्मों के लोग विशेष तथा उच्च शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से आए थे। इस विश्वविद्यालय के दस हजार छात्रों में ८,५०० छोटी श्रेणी के विद्यार्थी तथा १,५०० विद्वान् विद्यार्थी

थे। पाठ्यक्रम में उदारता और सार्वभौमिकता थी। शिक्षा की परम्परागत भारतीय प्रणाली वादविवाद तथा विचार विनिमय एवं सम्मेलनों के द्वारा विद्यार्थियों को यहाँ विभिन्न विषयों का पूर्ण ज्ञान होता था और उनका बौद्धिक विकास चरम सीमा पर पहुँच जाता था और वे तर्क करने में पारंगत होकर यहाँ से निकलते थे। नालंदा के पाठ्यक्रम में भारत के विभिन्न धर्मों के समस्त दर्शन, कला और और विज्ञान सम्मिलित थे। राज्य ने इस विश्वविद्यालय को १०० से अधिक गाँवों की कुल आय दे रक्खी थी ताकि इसकी उन्नति होती रहे और इसका प्रबन्ध सुचारु रूप से चलता रहे। इस विश्वविद्यालय में १०० बड़े–बड़े व्याख्यान–भवन थे जिसमें दैनिक क्लास लगते थे। कई सूत्रों के संग्रह में पारंगत होने वाले छात्र को पण्डित माना जाता था। नालंदा में पानी की घड़ी थी उसी से पूरे उत्तरी भारत में समय निश्चित किया जाता था। नालंदा का विश्वविद्यालय इतना अधिक महत्वपूर्ण था।

गुजरात में वल्लभी तथा बिहार में विक्रमशिला विद्या के अन्य प्रसिद्ध केन्द्र थे।

"परम्परागत भारतीय विद्या के उक्त समस्त महान् केन्द्रों का उस समय पतन होना था जबकि ११ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में मध्य एशिया के असंख्य अशिक्षित मुसलमान तलवार और आग लेकर भारत में घुस आए" और मार–काट, लूट–पाट, अग्निकाण्ड जैसे नृशंसकृत्य किए।

## साहित्य

इस काल के उच्च साहित्यिक कार्यों को हम काव्य, नाटक, कथाओं एवं धार्मिक साहित्य में विभाजित कर सकते हैं।

## काव्य

इसकाल में भारत के महानतम कवि कालिदास हुए थे। इनका जीवन रहस्य में छिपा है परन्तु यह कहा जाता है कि यह एक ऐसे ब्राह्मण के पुत्र थे जिसका पालन–पोषण उसकी मृत्यु के बाद एक ग्वाला द्वारा हुआ था। ये अशिक्षित और गंवार थे किन्तु भाग्यवश इनका विवाह एक राजकुमारी के साथ हो गया।

इससे कालिदास को बड़ी लज्जा हुई। उन्होंने अपने को काली देवी

को अर्पित कर दिया और वे काली की साधना में लग गए। इससे उनका नाम कालिदास अर्थात् "काली का सेवक" पड़ा। वे धीरे-धीरे विद्वान्, महापण्डित, सुसंस्कृत और धनी आदमी हो गए। कालिदास सम्राट विक्रमादित्य के दरबार के नौरत्नों में थे। विक्रमादित्य के अन्य रत्नों में ज्योतिष के विद्वान् वराहमिहिर, गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त, वैयाकरण वाररुचि, संस्कृति शब्दकोष के रचयिता अमरसिंह, धन्वन्तरि वैद्य, शिल्पकार शांखु, ज्योतिषी क्षपणक तथा इन्द्रजाल के पण्डित (जादूगर) वैतालिका थे। कालिदास के भाव काव्यात्मक थे परन्तु उन्होंने नाटकों तथा वीरगाथाओं की रचनाएँ की हैं। उन्होंने पुराणों, वीरगाथाओं तथा वेदों की एक कथा से अपनी रचनाओं के विषय लिए।

कुमार सम्भव (कुमार का जन्म) तथा रघुवंश (रघु का वंश) उनकी वीरगाथाएँ एवं महाकाव्य हैं।

कुमार युद्ध के देवता स्कन्द का दूसरा नाम है। इस महाकाव्य की कथा यह है कि असुरों के साथ जारी अन्नत युद्ध में देवताओं को एक नेता की आवश्यकता आ पड़ी। केवल शिव ही उनको ऐसा नेता दे सकते थे। वे तपस्या कर रहे थे। प्रेम के देवता कामदेव ने अपनी पत्नी रति के साथ उनकी तपस्या भंग कर दी। परन्तु शिव ने इस पर दुःखित होकर अपने तृतीय नेत्र खोल कर कामदेव को भस्म कर दिया। इस पर देवताओं ने मध्यस्थता की जिससे कामदेव फिर से जीवित कर दिए गए बाद में शिव को बड़ी तपस्या के बाद उनके साथ विवाहित उमा से एक पुत्र की प्राप्ति हुयी। कालिदास ने इन दोनों के विवाहित सुख का ऐसा सुन्दर वर्णन किया है कि उसके सामने यूरोपीय ढंग मात खा जाता है। रघुवंश में राम की वंशावली प्रस्तुत की गई है। इसमें रघु का जीवन चरित्र है जिनको नन्दिनी गाय की सेवा करने में 'अज' नामक पुत्र की प्राप्ति होती है और इनसे राम के पिता दशरथ उत्पन्न होते हैं। आकाश से गिरती हुई एक पुष्पों की माला अज की पत्नी इन्दुमती को मार डालती है। इस महाकाव्य में अग्निवर्ण नामक एक ऐसे राजा का वर्णन मिलता है जो अत्यधिक विषयी था और जो कामसूत्रों को व्यवहार में लाने में संलग्न था।

'मेघ-दूत' में कालिदास को काव्य क्षेत्र में पूर्णता प्राप्त होती है। इस काव्य का विषय विवाहित प्रेम है। धन के देवता कुबेर की अपने

एक सेवक यक्ष को निकाल देते हैं। उसे अपनी पत्नी से अलग हो जाना पड़ता है। वह उसकी विरह-व्यथा में व्याकुल रहता है और अपनी पत्नी के घर की ओर जाते हुए बादल को अपनी पत्नी के लिए विरहपूर्ण सन्देश देता है और उसके सामने अपना सारा दुःख प्रकट करता है। उधर उसकी पत्नी भी विरह-व्यथा में दिन काट रही थी। यक्ष ने बादल को अपनी पत्नी के लिए जो विरह-सन्देश दिया था उसी का चित्रण किया गया है। कहा जाता है कि कालिदास ने ऋतुसंभार (ऋतु-वर्णन), शृंगार-तिलक आदि अन्य कविताओं की भी रचना की है। कालिदास संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनकी कविताएँ सुन्दर एवं सादगी तथा भावपूर्ण और सुन्दर शब्दालंकार से पूर्ण हैं। प्रेम के भावों का वर्णन करने में उनकी काव्य की अद्‌भुत प्रतिभा प्रकट है। इन काव्यों में हमें यह भी देखने को मिलता है कि उस काल के कैसे आदर्श थे। उनका प्रकृति-वर्णन अद्वितीय एवं अनुपम है।

भैरवी तथा माघ इस युग के अन्य कवि हैं। भैरवी किरातार्जुनीय के लेखक हैं और यह बहुत प्रसिद्ध है तथा माघ प्रेम के कवि हैं। बाद के युग में भतृहरि हुए जो प्रेम के दार्शनिक थे।

हरिसेन, वसुला, वत्सभक्ति, कुब्ज तथा साब आदि अन्य मध्यम श्रेणी के कवि भी इस काल में हुए। हरिसेन ने समुद्रगुप्त की प्रशंसा में रचित अपने काव्य के लिए प्रसिद्ध हैं तथा वसुला यशोवर्मन के दरबार में कवि थे।

## नाटक

भारत में बहुत पहले ही नाट्‌य कला ने महान पूर्णता प्राप्त कर ली थी। इस कला का एक पूरा सिद्धान्त था जिसमें इसके नियम तथा वर्गीकरण थे। वेदों में इस कला का अपूर्ण रूप प्रस्तुत किया गया है। कृष्ण की भक्ति-प्रथा ने भारतीय नाट्‌य कला में भक्ति सम्बन्धी नृत्य तथा प्रदर्शन के रूप में अन्य स्वरूप दिए। अभिनेता को जयजीव, भरत, शैलुष तथा कुसिलव आदि नाम दिए गए हैं। उसे 'नट' भी कहा जाता था जिसका अर्थ नृत्य करने वाला है। नाट्‌य-ग्रन्थ को नाटक कहा जाता है और उसको मंच पर प्रदर्शित करने की कला को नाट्‌य कहा जाता है। इन सभी शब्दों का प्राथमिक अर्थ नृत्य है। और भारती नाट्‌य कला का मूल हमें प्रचलित नृत्यों तथा विभिन्न उत्सवों पर होने

वाले स्वांगों में मिलता है। यह दिलचस्प बात है कि भारत में स्त्रियाँ स्त्रियों का अभिनय करती थीं जबकि यूरोप में केवल पुरुषों को ही मंच पर अभिनय करने की आज्ञा थी।

ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी में संभवतः भरत मुनि ने भरत नाट्य शास्त्र लिखा। यह ग्रंथ रंगमंच की कला का कोष है। इसमें हम ब्रह्मा को पाँचवें वेद के रूप में इस कला की सृष्टि करते हुए पाते हैं। रंग-मंच को केवल सत्य को ही प्रस्तुत करना था। शिव अभिनेताओं को ताण्डव नृत्य सिखाते थे तथा पार्वती अभिनेत्रियों को लास्य नृत्य की शिक्षा देती थीं। भारतीय नाटकों की पृष्ठभूमि दुःखान्त नहीं है। यह इस बात का द्योतक है कि प्राचीन भारतीय जीवन कितना आन्नद एवं उल्लासपूर्ण था। नाट्य-शास्त्र में रंगमंच के निर्माण, अभिनय करने, नृत्य करने तथा सजावट करने के तरीके भी दिये गये हैं। इसमें यह भी बताया गया है कि किस अवसर पर किस भाषा का प्रयोग करना चाहिए। इसमें 'रसों' के सिद्धान्त तथा प्रेम, आन्नद, दया, भय, वीरता, भीतावस्था, निराशा एवं प्रशंसा के मुख्य-मुख्य भाव भी बताये गये हैं। उच्च कोटि के नाटक के दस रूप होते हैं जिसमें कविता प्रमुख है। इसके अतिरिक्त प्रहसन, प्रमोद तथा अन्यान्य प्रदर्शन भी दिये गए हैं। नाटक का प्रदर्शन प्रातःकाल से दिन भर होता था। अभिनेताओं के लिए सच्चरित्र होना आवश्यक था और सभी नाटकों में धार्मिक चरित्र दिखाया गया है।

सबसे पुराने नाटक बौद्ध धर्म के संस्कृत साहित्य में हैं। मध्यएशिया में हाल में जो आविष्कार हुए हैं उनसे इसकी पुष्टि होती है। अश्वघोष प्रसिद्ध बौद्ध नाट्यकारों में से थे। कालिदास के पूर्व भास नामक एक अन्य प्रसिद्ध नाटककार थे। इन्होंने महाभारत तथा राम और कृष्ण की प्राचीन कथाओं से अपना विषय लिया था। पंचरात्र, इतवाक्य, प्रतिमा नाटक, अभिषेक नाटक इनके प्रसिद्ध नाटक हैं। पंचरात्र में पाण्डव-कौरव युद्ध की कथा दी गयी है। इनका सबसे प्रसिद्ध नाटक 'स्वप्न-वासवदत्ता' है। इनकी १३ कृतियाँ अब तक प्रकाश में आयी हैं। इनकी रचनाओं में उन्होंने अपूर्व निपुणता दिखायी है। भाषा एवं शैली सुन्दर तथा चरित्र-चित्रण प्रभावपूर्ण है। शूद्रक तथा विसाखदत्त इस काल के अन्य प्रसिद्ध नाटककार हैं जिन्होंने क्रमशः "मृच्छकटिका" तथा "मुद्राराक्षस" की रचना की।

किन्तु इसकाल के सबसे प्रमुख नाटककार कालिदास थे। इनका प्रथम नाट्य-ग्रन्थ "मालविकाग्निमित्र" है। इसमें एक राजा के राजमहल के अन्दर की प्रणय-कथा है। अभिज्ञान शकुन्तलम (शकुन्तला की पहचान) में कालिदास की प्रतिभा चरम सीमा पर पहुँच गई है। इसकी कथा इतनी प्रसिद्ध है कि उसको यहाँ प्रस्तुत करना अनावश्यक है। इसका विषय महाभारत एवं पुराणों से लिया गया है। जोन्स ने सन् १७८९ में इस नाटक का सर्व प्रथम अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया। गटे ने लिखा है कि "शकुन्तला में सब स्वर्ग तथा सब पृथ्वी, सब फल-फूल तथा वे सभी वस्तुएँ प्रकट की गयी हैं जिससे आन्नद की प्राप्ति होती है।" इसके श्लोक सादे और आकर्षक हैं। इनका तृतीय नाटक विक्रमोर्वशी (वीरता से जीती गई उर्वशी) है। किसी ने भी कोमल से भावों को प्रकट करने की कला में कालिदास की समानता नहीं की है और कोई भी प्रकृति का इतना सुन्दर चित्रण नहीं कर सका है जितना सुन्दर कालिदास ने किया है। वे वस्तुतः भारत के शेक्सपियर हैं। कालिदास के उत्तराधिकारियों में गुप्तकाल के बाद भवभूति सबसे बड़े थे। उनके साथ-साथ नाट्य साहित्य के महान् युग का अन्त हो जाता है। भाँड़, प्रहसन आदि छोटे-छोटे नाटकों के भी प्रदर्शन होते थे।

## कथा साहित्य

इस साहित्य के प्रति सबसे अधिक अभिरुचि भारतीयों ने दिखायी है। इन कथाओं में सबसे प्राचीन जातक हैं जिनका यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। ये पाली में लिखी गई हैं और इनमें १०० से अधिक कथाएँ हैं। इनमें कहानियाँ और गल्प दोनों हैं। गल्पों के रूप में भारत ने विश्व का नेतृत्व किया है। इस प्रकार के ग्रन्थों में सबसे प्रसिद्ध 'पंचतन्त्र' है। इसका यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। यह तंत्राख्यायिका (छोटी कहानियों का संग्रह) का एक भाग है। तंत्राख्यायिका अप्राप्य है। पंचतंत्र (पाँच पुस्तक) राजनीति अर्थात् नीतिशास्त्र का एक छोटा सा ग्रन्थ है और इसमें पशुओं द्वारा कही गई कहानियों के रूप में राजाओं को नीति विषयक परामर्श दिया गया है। पंचतंत्र की कथाएँ पश्चिमी तथा पूर्वी साहित्य में इतनी गहराई में प्रविष्ट हो गयी है कि विशेषज्ञ लोग ही उन्हें पहचान सकते हैं। इन कहानियों में जानवर लोग राजा, दरबारी, मंत्री, खुफिया (जासूस) आदि का अभिनय करते हैं। इन कहानियों में स्वाभाविक ढंग पर व्यावहारिक बुद्धि संबंधी

शिक्षाएँ दी गयी हैं। ये कहानियाँ मनोरंजक भी हैं। इन कहानियों का एक भारतीय स्वरूप हितोपदेश है जो १४ वीं शताब्दी में लिखा गया है। पंचतन्त्र पहले छठी शताब्दी में फारस गया। वहाँ से यह अरब और सीरिया पहुँच गया। वहाँ से यूनानियों ने लिया और हिब्रू, लैटिन और स्पेनिश भाषा में इसके अनुवाद हुए। वे "ईसप की कहानियों" के भी आधार बने। "अरेबियन नाइट्स" (अलिफ लैला) भी पंचतंत्र का ऋणी है। कहा जाता है कि 'कैन्टरबरी टेल्स' की कुछ कहानियों तथा "डिकैमरन आफ बेकाशियो" और "ला फोन्टेन की कहानियों" में भी पंचतंत्र से प्रेरणा ली गयी है।

साहित्यिक कथाओं में 'गुणाध्य' का "वृहतकथा" सोमदेव का "कथा सरित सागर" (नदियों की कथाओं का समुद्र) तथा "सक सप्तति" प्रमुख एवं प्रसिद्ध हैं। वृहत्कथा में राजा उदयन, जिसका उल्लेख कालिदास ने मेघदूत में किया है, के विषय में कहानियाँ कही गई हैं। सोमदेव ने कथा-सरित-सागर की रचना ११ वीं शताब्दी में काश्मीर में की थी। सूक सप्तति में एक तोते की सत्तर कथाएँ हैं। सिन्दबाद जहाजी की कहानी का मूल स्रोत भारतीय है। बाण द्वारा रचित हर्षचरित तथा कादम्बरी भी कथा साहित्य में प्रमुख हैं।

## धार्मिक साहित्य

यह युग गीता, पुराणों, स्मृतियों जैसे ग्रन्थों के अंतिम नयेपन के लिये प्रसिद्ध था। महायान सम्प्रदाय के कई बौद्ध ग्रन्थ भी इसी काल में लिखे गए। ललिता-विस्तार (बुद्ध का आश्चर्यजनक जीवन) तथा अश्वघोष द्वारा रचित "बुद्ध चरित" इसके उदाहरण है। अश्वघोष ने लंकारसूत्र तथा महायान-स्त्राद्धोत्पाद जैसे दार्शनिक ग्रन्थ भी इसी काल में लिखे। एक अन्य प्रसिद्ध बौद्ध नागार्जुन ने 'माध्यमिक' या मध्यम मार्ग नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें 'संमाता' के सिद्धान्त की व्याख्या तथा वर्णन की गई है। पेशावर में असंग तथा वसुबन्धु नामक दो भाइयों ने योगकारा या सैद्धांतिक सम्प्रदाय की स्थापना की थी। इसी काल में महान दार्शनिकों ने ऊपर बतायी गयी दर्शन की ६ व्यवस्थायें बनाई थीं। अन्य साहित्यिक कृतियों में वात्सायन के कामसूत्र का भी उल्लेख किया जा सकता है जो इसी काल में लिखी गई थी।

गुप्त संस्कृति ने भारतीय भाषाओं को विकसित रूप दिया है। उनके

निश्चित व्याकरण तथा शब्दकोष थे। इसी काल में संस्कृत भाषा का उच्चतम स्वरूप हुआ। आर्यों की भाषा संस्कृत थी और यह होमेरिक ग्रीक, लैटिन तथा यूरोप की अन्य भाषाओं से मिलती जुलती थी। द्रविड़ भाषाओं का किसी तत्कालीन प्रचलित भाषा से सम्बन्ध नहीं था इनमें से प्रत्येक भाषा का अपना साहित्य था और तामिल भाषा संस्कृत साहित्य से किसी भी माने म पीछे नहीं थी। यह भाषा भी संस्कृत में प्रविष्ट कर ली गई है।

प्राचीन भारतीय, मध्य भारतीय तथा आधुनिक भारतीय नामक संस्कृत भाषा के तीन स्वरूप हैं।

प्राचीन भारतीय वैदिक है और यह प्राचीन ईरानियों की पवित्र भाषा अवेस्ता से इतनी अधिक मिलती-जुलती है कि वैदिक संस्कृत भाषा जानने वाला "अवेस्ता" भाषा को शीघ्र समझ सकता है। वैदिक भाषा सजातीय भाषा नहीं है और इसमें वैदेशिक प्रभाव के लक्षण दिखाई देते हैं।

यह भाषा धीरे-धीरे वेदोत्तर कालीन और सूत्र कालीन भाषा में बदल गयी। ईसा-पूर्व पाँचवीं शताब्दी के मध्य में प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने इसको नियमबद्ध किया और यह संस्कृत या पूर्ण या व्यवस्थित भाषा बन गई। संस्कृत जनता की भाषा नहीं थी। उच्च-जाति या श्रेणी के लोग ही इसे बोलते थे। यह भाषा रट कर सीखी जाती थी। संस्कृत भाषा में भी पाणिनि, वीरगाथा तथा उच्च कोटि के कालों के भिन्न-भिन्न स्वरूप देखे जाते हैं।

वैदिक तथा संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत भाषा भी विकसित होती रही और वीरगाथा काल में इसका पूर्णतः विकसित रूप सामने आया। इसी प्रकार लंका, बर्मा तथा स्याम के बौद्धों की धार्मिक भाषा पाली हमारे सामने आयी।

## भाषाओं का विकास

संस्कृत के साथ-साथ वैदिक काल से निकली अन्य देशी भाषाएं भी अब विकसित हो गईं। इन भाषाओं को "प्राकृत" कहा गया जो भारतीय देशी भाषाओं के पूर्वरूप हैं। इनमें तथा संस्कृत में उच्चारण का

अन्तर है क्योंकि इस भाषा में व्यञ्जनों की कठिन सन्धियाँ नहीं हैं और इनमें अन्तिम स्वरों को विशेषता दी गई है। इस प्रकार संस्कृत के "सूत्र" और "धर्म" प्राकृत के "सूत्त" और "धर्म" के रूप में दिखाई देते हैं। बौद्धों ने प्राकृत के जिस रूप का उपयोग किया है वह पाली है जिसमें अशोक ने अपने लेख खुदवाए थे। अन्य प्राकृत भाषाओं में निम्नलिखित मुख्य हैं :—

१–सौरसेनी, जो मथुरा के आसपास बोली जाती थी।
२–अर्धमगधी, जो अवध एवं बुन्देलखण्ड में बोली जाती थी।
३–मगधी, जो आधुनिक बिहार में बोली जाती थी।
४–महाराष्ट्र, जो बरार में बोली जाती थी।

प्राकृत भाषा का अंतिम रूप "अपभ्रन्श" के नाम से प्रसिद्ध है। जब प्राकृत का साहित्यिक भाषाओं के रूप में उपयोग होने लगा तब भारतीय वैयाकरण उन देशी भाषाओं को अपभ्रंश कहने लगे जो प्राकृत के आधार थे। बाद में साहित्यिक उद्देश्य से इन भाषाओं का उपयोग होने लगा और आधुनिक देशी भाषाएँ इन्हीं अपभ्रंशों की प्रत्यक्ष सन्तान हैं। सौरसेनी के अपभ्रंश से पंजाबी, पश्चिमी हिन्दी तथा गुजराती निकली और अर्धमगधी के अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी निकली। सिन्धु के पूर्व में अपभ्रंश से कश्मीरी तथा लहाद भाषाएँ निकलीं तथा व्राचड़ से सिन्धी निकली। महाराष्ट्री ने हमें मराठी तथा मगधी से बिहारी, उड़िया और बंगला भाषाएँ निकली। निम्न श्रेणी के लोग पैशाची भाषा बोलते थे। प्राचीन काल में भारतीय भाषाओं के ये मुख्य विकास हुए।

## लेखन—कला

अनेक विद्वान् निश्चय पूर्वक कहते हैं कि भारत में लिखने की कला बहुत प्राचीन नहीं है। परन्तु गौरीशंकर ओझा जैसे विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भारत में वैदिक काल तक में लोग लिखने की कला जानते थे। भारत की सनातन तथा वाममार्ग दोनों परम्पराओं से यह संकेत मिलता है कि यहाँ बहुत प्राचीन काल में लेखन–कला का आविष्कार हुआ था। वृहस्पति–मनु विषयक वार्तिक में, उन्तसंग में, जैन सामवयंग तथा चीन के बौद्ध धर्म के ग्रन्थ फान्शुलिन में हमारी लेखन–कला के विषयक में उद्धरण मिलते हैं। मौर्य काल के पूर्व के पिपरहाव, वास और भाली के लेखों ( ई० पू० ४८७–४९३ वर्ष ) में भी लेखन–कला के इससे पूर्व विकास होने का संकेत है। वीरगाथाओं एवं स्मृतियों में लिखित

तथ्यों के उद्धरण भरे हुये हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र ने भी लिखित शब्द के उल्लेख किए हैं । व्याकरण, छन्द और गणित का विकास लेखन–कला के ज्ञान का द्योतक है। पाणिनि ने लिपि, लिपिकार तथा यवनानी (यवनों की लिपि) की चर्चा की है और लिखित पुस्तक के लिए "ग्रन्थ" शब्द का उल्लेख किया है । छान्दोग्य उपनिषद में "अक्षर" शब्द का उल्लेख आया है और स्वरों के गूढ़ महत्व की व्याख्या की गयी है। अन्य उपनिषदों में तीन लिंगों तथा 'ओम्' शब्द कैसे बना इसका वर्णन किया गया है । बौद्ध साहित्य, विशेषतः 'पूर्पीटिका' में ऐसे असंख्य लेख मिलते हैं जिनमें लेखन–कला तथा लेखकों से तत्कालीन लोगों के परिचित होने का प्रमाण मिलता है । इन लेखों' में लेखक' और "लेखकारों" के उल्लेख किए गए हैं । लिखने की पट्टी (फलक) तथा लकड़ी की कलम (वर्णक) का भी उल्लेख आया है। ईसा–पूर्व चौथी शताब्दी में 'नियर्चेस' का एक वक्तव्य है जिसके अनुसार रुई के कपड़े पर हिन्दू लोग लिखा करते थे। हमारे पास ऐसे प्राचीन लेख, शिला–लेख आदि भी हैं जिनमें लिपियों के विकास का प्रमाण है । अशोक कालीन लिपि "ब्राह्मी" थी जिससे देवनागरी का जन्म हुआ। प्राचीन काल में भारत के उत्तर–पश्चिमी भागों में "खारोष्ठि" लिपि प्रचलित थी जो दाहिनी से बाईं ओर लिखी जाती थी। ये सब प्रमाण इस बात के द्योतक हैं कि भारत में सहस्रों वर्ष पूर्व लेखन–कला का विकास हुआ था। आम तौर पर लोग भोज–पत्र, ताड़–पत्र, लकड़ी या तांबे की पट्टी पर लिखा करते थे। कागज का प्रचलन मध्ययुग में सम्भवतः मुसलमानों द्वारा किया गया। कुछ लोगों का कथन है कि उस समय लेखन–कला बहुत अधिक विकसित नहीं थी क्योंकि उनका ऐसा विश्वास है कि लोग पवित्र ग्रन्थों को कन्ठाग्र करके या सुन कर सुरक्षित रखते थे और उनको अधिकतर लिपिबद्ध नहीं किया जाता था।

## विज्ञान

इस काल में विज्ञान ने भी काफी पूर्णता प्राप्त की और इस क्षेत्र में भी भारत की बड़ी प्रगति हुयी। गणित, ज्योतिषविद्या, औषधि-विज्ञान, रसायन, भौतिक तथा धातु विज्ञान सबसे प्रसिद्ध विज्ञानों में थे।

गणित में सबसे आश्चर्यजनक आविष्कार दशमलव तथा शून्य के उपयोग का हुआ। यह प्रथम नौ अंकों के स्थान–मूल्य के सिद्धान्त पर आधारित था। रेखागणित भी उच्च स्तर पर पहुँच गई और इसमें वृत तथा त्रिकोण आदि सम्बन्धी कई प्रयोग हुए। गणित सम्बन्धी सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ

'आर्यभट्ट' है जो ईसवी सन् ४९९ में लिखा गया था। इसमें अंकगणित, रेखागणित और बीजगणित का अध्ययन है। इस समय ट्रिग्नामेट्री का भी प्रयोग हो रहा था। इसलिए यह स्पष्ट है कि गणितशास्त्र के क्षेत्र में भारतीयों ने यवनों (ग्रीक) का नेतृत्व किया था। इसकाल में ज्योतिष विद्या की भी भारी प्रगति हुयी। वाराहमिहिर और आर्यभट्ट सबसे प्रमुख ज्योतिषशास्त्री थे। आर्यभट्ट ने यह स्पष्ट किया था कि चन्द्रमा के पृथ्वी की छाया में या पृथ्वी एवं सूर्य के बीच में आ जाने पर ग्रहण होते हैं। इन्होंने यह आविष्कार किया था कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है। इन्होंने ही ज्योतिष विद्या में ट्रिग्नामेट्री का प्रयोग किया। इन्होंने लगातार दो दिनों के सम्बन्ध में नियम निर्धारित किया था। आर्यभट्ट ने नक्षत्र के पक्ष को सही निर्धारित भी किया था। इस प्रकार ये यूरोपीय ज्योतिषवेत्ताओं से कहीं आगे थे। हिन्दुओं के ज्योतिष संबंधी सब सिद्धान्त स्वतंत्र अनुसन्धान के परिणाम थे पर उन्होंने यवनों के भी कुछ सिद्धान्त ले लिए थे।

## औषधि-विज्ञान

चरक और सुश्रुत ने चरक-संहिता और सुश्रुत-संहिता नामक दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ इस विज्ञान पर लिखे थे। इस काल में इन ग्रन्थों को अन्तिम रूप दिया गया। वाग्भट्ट द्वारा रचित अष्टाँग-संग्रह में उनके निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं। चरक एवं सुश्रुत ने एक चिकित्सक के लिए बहुत ऊँचे आदर्श रक्खे थे। चिकित्सक के लिए चरित्र में महान्, योगी तथा मानवता का हितेच्छु होना आवश्यक था। वह अपनी औषधियों का अधिक मूल्य नहीं लेता था। वह धनी और गरीब में भेद नहीं करता था। सरकार तथा प्रजा ऐसे अस्पतालों की स्थापना एवं प्रबन्धादि के लिए धन देती थी जिसमें मनुष्यों एवं पशुओं की चिकित्सा होती थी। कहा जाता है कि नागार्जुन ने कीटनाशक औषधियों तथा रसायनविधियों का आविष्कार किया था। चेचक के लिए टीके भी लगाए जाते थे। हिन्दुओं ने ही सबसे पहले औषधियाँ निकाली थीं। भारतीय औषधि-विज्ञान में पूरे विज्ञान का अध्ययन किया गया था। इसमें शरीर, इसकी सब इन्द्रियों, ग्रन्थियों आदि की बनावट का अध्ययन किया गया था। औषधि सम्बन्धी ग्रन्थों में खनिज तथा वनस्पति एवं पशुओं से तैयार किये गय रसायन-द्रव्यों का वृहत् संग्रह है। इनमें स्वास्थ्य एवं शरीर रक्षा तथा आहार पर बहुत ध्यान दिया गया है। शल्यचिकित्सा शास्त्र में भी प्राचीन

भारतीयों ने बड़े-बड़े अनुसन्धान किये हैं। उन्होंने अंग विच्छेद तथा चीर-फाड़ भी किए थे और विकृत कानों और नाकों को भी ठीक कर दिया था। शल्य-चिकित्सा सम्बन्धी औजार बहुत ध्यान से तैयार किए जाते थे।

शल्य-चिकित्सा के विशेषज्ञ सुश्रुत ने शल्य-चिकित्सा सम्बन्धी कम से कम १२० अस्त्रों का उल्लेख किया है। महान् चिकित्सक चरक ने कहा है कि "किसी चिकित्सक को अपने रोगियों की चिकित्सा धन की लालच में या किसी साँसारिक उद्देश्य से नहीं करनी चाहिए।"

## रसायन-विज्ञान तथा धातु को गलाने की विद्या

इन विषयों से सम्बन्धित इस काल का कोई भी ग्रन्थ नहीं मिलता। नागार्जुन को महान् रसायन-विद्वान कहा गया है। इन विज्ञानों में हिन्दुओं ने कितनी अधिक निपुणता तथा विद्वत्ता दिखायी है इसका मौन प्रमाण कुतुबमीनार के निकट स्थित लौह स्तम्भ है। गत १५०० वर्षों से यह लौह स्तम्भ वर्षा, धूप और भयंकर सर्दी में इसी प्रकार खड़ा हुआ है और उसमें कोई भी आँच नहीं आयी है। इसकी चमक वैसी ही उज्ज्वल है, इस पर उत्कृष्ट ढंग के द्रव्यों की पालिश की गयी होगी। आधुनिक वैज्ञानिक इसका स्पष्टीकरण नहीं कर सकते कि यह कैसे संभव हुआ। यूरोप तथा एशिया में कई शताब्दियों तक ६॥ टन वजन का २४ फीट ऊँचा इस प्रकार के स्तम्भ का निर्माण असंभव कार्य था। औषधियों में पारा और लौह का उपयोग इस बात का द्योतक है कि इस काल में रसायनिक द्रव्यों का अत्यधिक उपयोग होता था। वारामिहिर तरह-तरह की रुचि के वैज्ञानिक थे। वे नक्षत्र-विद्या, ज्योतिष, गणित, धातु गलाने के विज्ञान, रसायनशास्त्र, रत्न-विज्ञान, वनस्पति-विद्या, जीव-विज्ञान, इंजीनियरिंग, जल-प्रणाली तथा ऋतुविज्ञान तक में निपुण थे। पश्चिम अपनी विज्ञान सम्बन्धी कृतियों पर गर्व करते हुए सदैव भारत पर यह दोषारोपण करता है कि उसने इस क्षेत्र में अत्यल्प योगदान किया है। परन्तु उपर्युक्त तथ्यों से यह प्रकट है कि प्राचीन भारत में लोग उत्साहपूर्वक विज्ञान के क्षेत्र में काम करते थे और ऐसे अनेक अनुसन्धान हुए थे जो यवनों तथा अरबों के द्वारा यूरोप में पहुँच गए।

## कला कौशल

गुप्तकाल की मुख्य विशेषतः भारतीय कलाओं का विकास है

शताब्दियों के प्रयास से कलाओं के स्वरूप पूर्ण हो गये थे, विभिन्न प्रकार की कलाएं हो गई थीं और सौन्दर्य के सिद्धांत बन गए थे। इसकाल में जो कला थी उसको देखकर बाद के युगों के भारतीय कलाकारों को ईर्षा तथा निराशा होती है। इनका वर्णन करने के पूर्व गुप्तकाल के पहले भारहूत (मध्यभारत का नागोद राज्य), बोधगया, साँची (भोपाल), मथुरा, गान्धार, अमरावती (दक्षिण) तथा नागार्जुनिकोंड़ (दक्षिण) में जो कलाएं थीं उन पर कुछ प्रकाश डालना उचित होगा। गाँधार कला पर पहले प्रकाश डाला चुका है। साँची, मथुरा अमरावती नामक तीन प्रसिद्ध कला केन्द्रों के विषय में यहाँ कुछ विवरण देना उचित है।

साँची में तीन बड़े स्तूप हैं। एक को अशोक ने बनवाया था जिसे अब और बड़ा बनवा दिया गया है और इसमें ४ वृहत् मुख्य द्वार बनवा दिये गए हैं। ये द्वार हर एक घेरे के बीच में है इन मुख्य द्वारों पर जातकों (कहानियाँ) तथा भगवान बुद्ध के जीवन संबंधी कई कथायें चित्रित हैं। इनमें चित्रित की गई मानबाकृतियाँ तिरछी और बड़ी ही सुन्दर हैं और इनकी सजावट में और इनको अंकित करने में बड़ी कारीगरी दिखाई गई है। इनमें तत्कालीन प्रजा के दैनिक जीवन तथा नैसर्गिक स्वभावों के ज्वलन्त चित्र देखने को मिलते हैं। ये चित्र सौन्दर्य एवं कला के भावों से परिपूर्ण हैं। मथुरा नगर इस काल के भग्न अवशेषों का भण्डार सिद्ध हुआ है। यहाँ तत्कालीन जंगलों, मूर्तियों एवं प्रस्तरमूर्तियों के अवशेष मिले हैं। यहाँ पहली बार बुद्ध को मानव की आकृति में प्रस्तुत किया गया है। ये अवशेष गाँधार कला की नकल नहीं वरन मौलिक रूप में भारतीय हैं। इनमें एक शिरविहीन खड़ी हुई मूर्ति है जो सम्भवतः कनिष्क की है। अमरावती में सुन्दर-सुन्दर स्तूपों का निर्माण कराया गया था। इनके रूप पूर्णतः मौलिक हैं। इन मूर्तियों के आकार-प्रकार विशेष ढंग के हैं तथा उनकी जो भाव-भंगिमाएँ चित्रित की गई हैं वे अत्यन्त कठिन हैं।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि गुप्तकाल के पहले भी कला के क्षेत्र में भारत की बड़ी प्रगति हो गई थी। इन कलाओं में शिल्प, भवननिर्माण, रंगाई, पच्चीकारी, चित्रकारी तथा मिट्टी की चीजें बनाने आदि की कई प्रकार की कलाएँ थीं।

## शिल्प (Sculpture)

शिल्प-कला ने गुप्तकाल को बहुत सम्मान दिया है और इसको उच्चस्तर

पर पहुंचाने में शिल्प का बड़ा भारी हाथ है। इस कला से पहले की कला विलासितापूर्ण थी परन्तु गुप्तकला में समाज की नैतिकता और विलासिता दोनों का सन्तुलन किया गया है। इसने नग्नता का अन्त कर दिया और इसमें वाह्य स्वरूप के द्वारा आँतरिक रूप को चित्रित किया गया है। इस काल की बुद्ध की मूर्तियों में इसका उदाहरण मिलता है। इन बुद्ध–मूर्तियों में सारनाथ की बैठे हुए बुद्ध की मूर्ति, मथुरा अजायबघर की खड़े हुए बुद्ध की मूर्ति तथा बुद्ध की वृहत् ताँबे की मूर्ति, जो इस समय बकिंघम के अजायबघर में है, आदि प्रमुख हैं। सारनाथ की मूर्ति में चित्रित आध्यात्मिक प्रकाश, शान्तिपूर्ण मुस्कान तथा समाधि–अवस्था के प्रकट किए गए भाव भारतीय कला की उच्चतम विजय के नमूने हैं। इन मूर्तियों में भगवान बुद्ध के बाल घुंघराले और सुन्दर तथा पहनावा सुन्दर और आकर्षक एवं मनोहर सजावट आदि विशेषताएं हैं। अस्तु गुप्तकला भारत की उस प्रतिभा को प्रकट करती है जिसमें वाह्य स्वरूपों में अध्यात्मिकता दिखायी गयी है।

इस शिल्प में शिव तथा विष्णु की पूजा (आराधना) भी प्रतिबिम्बित की गयी है। मथुरा में विष्णु की एक मूर्ति है जिसके चेहरे पर साँसारिक सन्तुष्टि तथा कठोर अध्यात्मिक तप दिखाया गया है। शिल्प-कला में शिव तथा विष्णु की कई प्राचीन कथाएं भी प्रस्तुत की गई हैं। इसी प्रकार झाँसी जिले में स्थित देवगढ़ मन्दिर में राम और कृष्ण की कथाएं अंकित की गई हैं जिसमें कलाकारों को पूर्ण सफलता मिली है। गुप्त-शिल्प-कला आकर्षक साज-सज्जा से परिपूर्ण है और इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार के आभूषणादि का मनोरम चित्रण है। चांदी या सोनें के वर्कों की लहरदार एवं पेचदार मढ़ाई गुप्त-कला की मुख्य विशेषता है। गुप्त शिल्प-कला बहुत ऊंचे स्तर पर पहुंची हुई थी। यह सौन्दर्य, गौरव, लालित्य, बौद्धिकता तथा आध्यात्मिकता से परिपूर्ण थी।

## निर्माण–कला

इस समय भारतवर्ष के दक्षिण तथा उत्तर में अधिकाधिक संख्या में बड़े–बड़े मन्दिर बनते जा रहे थे। इस काल के बहुत से मन्दिर आज भी वर्त्तमान हैं जिनमें भीतरगाँव (कानपुर) स्थित पक्की ईंटों का मन्दिर, तिगवा (जबलपुर) का विष्णु मन्दिर तथा भूमाण (नागोद) स्थित शिवमन्दिर प्रमुख हैं।

भीतरगाँव मन्दिर इसलिए महत्वपूर्ण है कि इसमें वह प्राचीनतम

मेहराब की बनावट है जिसकी नींव भारत में डाली गई थी। यह मन्दिर बहुत सुन्दर है और इसमें विभिन्न प्रकार की ईंटें हैं। इसमें हिन्दू पुराणों की कथाओं के दृश्य अंकित हैं।

हिन्दू मन्दिरों में प्राचीनतम पत्थर के बने हुए मन्दिर हैं। इसीलिए वे छोटे और सादे ढंग के होते थे। इनमें बड़ी भीड़ एकत्रित होने लायक स्थान नहीं होते थे। ऊँचे-ऊँचे शिखरों (गुम्मबज) तथा विस्तृत मण्डपों (भवनों) का निर्माण बाद में हुआ।

गुफाओं का निर्माण भी बड़े परिश्रम के साथ जारी था। अजन्ता में चैत्य तथा बिहार दोनों प्रकार की गुफाएँ खोदी गई थीं। चैत्यगुफाएँ बुद्ध की मूर्ति या स्तूप की मन्दिर हैं तथा विहार गुफाएँ प्रारंभिक रूप में मठ थीं। ये गुफाएँ उस युग की सर्वश्रेष्ठ स्मारक हैं। इनमें सुन्दर-सुन्दर स्तम्भ तथा भिन्न-भिन्न स्वरूपों एवं प्रकारों में समता रुचि-संशोधन देखने में आते हैं।

इसकाल में भवन निर्मित हुए थे उनकी बनावट प्रभावपूर्ण थी। ये भवन बड़े-ऊँचे थे और इनमें खिड़कियाँ, कटघरे, स्तम्भ, वरामदा, छज्जा, जंगले आदि होते थे। धनी लोगों के मकानों में चित्रशाला, संगीतशाला आदि होते थे। इसकाल के भवन, इमारत, मकानादि कई मंजिले होते थे। तुलनात्मक दृष्टि से इस काल की निर्माण-कला शिल्प या चित्र-कारिता जैसे ऊँचे स्तर की नहीं थी।

## मिट्टी के काम

इस काल में मिट्टी की मूर्तियाँ बनाने की कला व्यापक रूप में प्रचलित थी और मिट्टी की मूर्तियाँ बनाने वाले कुशल कारीगरों ने इसकला में वास्त-विक सौन्दर्य चित्रित किया था। मिट्टी की मूर्तियाँ गरीबों की शिल्प-कला मानी जाती थीं। इन्होंने कला एवं संस्कृति के प्रचार में बड़ा योग दिया। घरों तथा राजप्रासादों दोनों में ये प्रचलित थे। मन्दिरों में भी बड़ी-बड़ी मूर्तियों में मिट्टी का उपयोग किया गया था। उत्सव-समारोह आदि पर मिट्टी की मूर्तियों की माँग अधिक रहती थी। मिट्टी की मूर्तियों में देवी-देवता, पुरुष-नारी तथा अन्य प्राणियों एवं पदार्थों का प्रतिनिधित्व रहता था। यह कला इस काल के सुन्दर प्रतीकों का अध्ययन प्रस्तुत करती है। राजघाट में हाल में जो खुदाई हुई है उसमें ये मूर्तियाँ मिली हैं और

इनमें अंकित सौन्दर्य को देख कर आँखों को चकित रह जाना पड़ता है। कलाकार ने जिस वस्तु को भी स्पर्श किया है उसी को उसने सजा दिया है।

## चित्रकारिता

यह कला इस काल में अपनी चरम सीमा पर पहुँची थी। बेदसा तथा बाघ की गुफाओं, विशेषतः हैदराबाद में अजन्ता की गुफाओं में यह चित्रकारिता देखने को मिलती है। इन गुफाओं में अंकित चित्र यह बताते हैं कि उन चित्रकारों तथा इन गुफाओं के मालिकों को प्रकृति से प्रेम था। इनमें पुष्पों से लदे हुए वृक्षों, शाँतिपूर्वक बहते हुए छोटे-छोटे झरनों और विचरते हुए वनवासियों का अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया गया है। सरजान मार्शल ने कहा है कि "इन चित्रों की कला वह स्रोत है जहाँ से एशिया की आधी कला को प्रेरणा मिली। इन चित्रों की सुन्दरता, चमक तथा सजावट को कोई भी व्यक्ति अध्ययन नहीं कर सकता। इन्होंने न केवल भारत, उसके समीपस्थ देशों वरन् उन समस्त दूरस्थ देशों की कला पर अपना प्रभाव डाला है जहाँ-जहाँ बौद्धधर्म का प्रसार हुआ था।" अजन्ता की कला सैकड़ों वर्षों के कलात्मक परिश्रम की स्पष्ट रोशनी है। "इडियन आर्ट" में विल्किन्सन ने लिखा है कि "इन चित्रों में जो अद्भुत सजावट, भिन्न-भिन्न रूप, पशु-पक्षियों की भावनाओं, तथा नाटकीय चरित्र-चित्रण है वह विश्व की कला में एकमेव तथा अद्वितीय है।"

संक्षेप में, गुप्त काल की कला संयम, विकसित सांस्कृतिक रुचि के चिन्ह तथा सौन्दर्यग्राही आनन्द आदि मुख्य विशेषताएँ प्रकट करती हैं। इस कला में सन्तुलन, स्वतंत्रता तथा सुन्दरता का उचित सम्मिश्रण किया गया है।

दूसरी विशेषता यह है कि इस कला में सौन्दर्य की उपासना है। यह सौन्दर्य अन्तरात्मा की महानता का प्रतीक है।

तृतीय विशेषता यह है कि गुप्त कला में धार्मिकता एवं अध्यात्मिकता है। इस काल के कलाकार शिल्प-योगी तथा ऋषि थे जिन्होंने जीवन की ऊँची बातों के अध्ययन में अपना जीवन बिताया था और विभिन्न चित्रों में उनका वही अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

चौथी विशेषता इसकी शैली की सादगी और भावों का सुन्दरतम रूप में प्रकटीकरण है। इसकी प्रणाली को एकरूपता में ढाल दिया गया है।

अस्तु, गुप्तकाल ने भारतीय कला को उसके उच्चतम शिखर पर पहुँचाया है।

यहाँ अजन्ता की गुफाओं के, जो गुप्तकला के कई स्वरूपों की प्रतिनिधि हैं, विषय में कुछ बता देना आवश्यक है।

अजन्ता हैदराबाद में है और पश्चिमी घाट नामक प्रसिद्ध पर्वतमाला के उस भाग में स्थित है जो "दक्षिणी" भूमि की सीमा है और स भूमि को ताप्ती नदी की घाटी के पास खान्देश से अलग करती है। ईसा के पूर्व तीन शताब्दी से कुछ ही समय पूर्व बौद्ध भिक्षुओं ने अजन्ता की गुफाओं की खुदाई (निर्माण) प्रारम्भ की थी। यह खुदाई (निर्माण) लगभग एक हजार वर्षों तक जारी रही। इसमें २९ गुफाएँ हैं जो भारतीय कला के सबसे अधिक आश्चर्य पूर्ण अवशेष हैं। अजन्ता की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें तत्कालीन भारतीय कला के शिल्प, निर्माण, चित्रकारिता आदि कला के तीन अंगों को प्रकट किया गया है और इनके भिन्न-भिन्न रूप प्रकट किए गए हैं। अजन्ता में कला के इन तीनों अंगों में आश्चर्यजनक एकता चित्रित की गयी है। इनमें प्राकृतिक दृश्य भरे हुए हैं और स्थान बड़ा ही सुन्दर है। तत्कालीन कलाकारों ने अपनी कलात्मक प्रतिभा प्रदर्शित करने के लिए इस स्थान को चुना था। यह इस बात का द्योतक है कि उनकी रुचि कितनी अच्छी थी। अजन्ता में भारतीय कलाकारों की "अद्भुत अवलोकन शक्ति चित्रित है। उन्होंने केवल अध्यात्मिक तप के द्वारा देवताओं के रूप को पहचाना था। इसमें चित्रित अवलोकनशक्ति सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक सच्चे स्तर की है।" (शंकराचार्य) इस प्रकार अजन्ता के कलाकारों की आत्मा अपनी शक्ति के प्रति जागृत थी और इन गुफाओं में अंकित चित्रों में उसी आत्मा का चित्रण है। अजन्ता की कला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण दीवालों पर की गई चित्रकारी है। इस चित्रकारी में भौतिक वस्तुओं के आत्मिक स्वरूप को प्रकट किया गया है। १७ वीं गुफा में बुद्ध के सामने माता और शिशु का जो प्रसिद्ध चित्र है वह अजन्ता की कला की पराकाष्ठा का महान् उदाहरण है। इसमें आराधना की आंतरिक धार्मिक भावना, प्रेममग्न मानवता की आत्मा को बुद्ध में स्थित शांत परमात्मा में परिणत करने तथा जागृति की अवस्था में प्रसन्नतापूर्वक बच्चों की सी मुस्कान, जो आगामी गहनतम अध्यात्मिकता का द्योतक है, का चित्रण है। इनमें साधारण घटनाओं को भी गूढ़ रूप में प्रकट किया गया है। कलाकारों ने इनमें अपनी आत्मा को चित्रों के रूप में प्रकट किया है। इनमें इस जगत और प्रकृति से परे की सुन्दरता का चित्रण है।

९वीं गुफा में नागराज को अपनी रानी सहित बैठे हुए चित्रित किया गया है। यह शिल्प-कला का सबसे अच्छा नमूना है। इसमें वे दोनों समाधि की अवस्था में दिखाए गए हैं और जो कुछ वे सुन रहे थे उनमें गम्भीर रूप में संलग्न दिखाए गए हैं। बुद्ध की असंख्य मूर्तियों में भी कलाकारों की ऊंची भक्ति का चित्रण है।

अजन्ता की परम्परा भारत तथा अन्य देशों की नयी कलात्मक कृतियों की नींव बनी थीं। उदाहरणार्थ, सिगिराया (लंका) के छाया चित्रों में, बाघ, (ग्वालियर) की चित्रकारी में, मद्रास प्रान्त स्थित सित्तन्नावसल के मन्दिर के छायाचित्रों में, राजपूत एवं पहाड़ी चित्रकारियों में, मध्य एशिया, चीन, जापान, दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा तिब्बत के कला-अवशेषों में इस परम्परा का बड़ा प्रभाव देखने में आता है।

अस्तु, गुप्तकाल (उच्चतम काल) विद्वानों, कानून निर्माताओं, द्वैतवादियों तथा दार्शनिकों का युग था। "इस युग ने मानव जाति को रचनात्मक उत्साह को भौतिकता में चित्रित होते हुए और जीवन के सौन्दर्य में अंकित होते हुए देखा है। भारत ने अपने इतिहास में किसी भी समय अपनी जीवन-शक्ति को इतने अधिक रूपों में पल्लवित होते नहीं देखा है। साँस्कृतिक रूप में भारत कभी भी इतना धनवान और रचनात्मक नहीं था।" "यहाँ भारत का मस्तिष्क अपनी आत्मा की ज्योति को मनुष्य के भौतिक जीवन में प्रविष्ट कराने तथा भौतिकता के सत्य का आँतरिक दृश्य देखने का प्रयास कर रहा था।"

## भारत में विदेशी यात्री

प्राचीन भारत में कई विदेशी यात्री भारत-भ्रमण के लिए आए थे जिनमें मेगस्थनीज़ (जो राजदूत के रूप में आया था), फाहियान, ह्व‍ेनसांग तथा आईसिंग सबसे अधिक विख्यात हैं। उन्होंने जो कुछ वर्णन किया है उसका अधिकाँश ऊपर चित्रित किया जा चुका है। उनमें से कुछ महत्वपूर्ण बातें हम यहाँ भी दे रहे हैं :—

## मेगस्थनीज़

सेल्यूकस के राजदूत के रूप में मेगस्थनीज़ ईसा के ३०० वर्ष पूर्व पाटलिपुत्र में आया था। इसने मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के शासन का, जो आधुनिक शासन-प्रणाली पर आधारित था, का पूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है।

मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि मौर्य सम्राट के साथ हमेशा सशस्त्र विदेशी योद्धाओं का एक अंगरक्षक दल रहता था। यह अंगरक्षक दल सम्राट जिस प्रासाद में सोते थे वहाँ भी रहता था। इसने भारतीय देवताओं को भवनों के देवताओं के सदृश बताया है। इसमें शिव को डायोनीसस तथा कृष्ण को हेराकल्स बताया है। मेगस्थनीज़ जैन, बौद्ध तथा अन्य सन्यासियों के भेद को नहीं जानता था। इसने ऐसे सन्यासियों के एक दल का वर्णन किया है—"जो पूजा-आराधना में दिन बिताते थे, माँसाहार नहीं करते थे और गंभीर प्रवचन (उपदेश) सुना करते थे।" इनका मुख्य विषय मृत्यु था "उनके मतानुसार यह जीवन गर्भ में गुजरी हुई अवस्थाओं के समान है, और जिन्होंने दर्शन की चर्चा की है उनके लिए मृत्यु ही वास्तविक जन्म तथा सुख-पूर्ण जीवन है"।

मेगस्थनीज़ ने व्यवसायों के अनुसार सात जातियों का वर्णन किया है। इसमें उसने दार्शनिकों की भी एक जाति माना है। उसने यह भी लिखा है कि "कोई भी भारतवासी कभी झूठ बोलने के लिए दंडित नहीं हुआ।" अर्थात् कोई झूठ नहीं बोलता था। उसके अनुसार भारत में कभी दुर्भिक्ष (अकाल) नहीं पड़ा था। भारतवासियों के पास जीवन के अपरिमित साधन थे। वे कलाओं में पारंगत थे। उसने लिखा है कि सभी भारतवासी स्वतंत्र थे और कोई भी दास नहीं था। युद्ध के समय किसानों के खेतों को नष्ट नहीं किया जाता था। इसने भारत के विषय में कई अद्भुत कहानियाँ कही है और लिखा है कि भारत में सोने की चीटियाँ होती थीं।

## फाहियान

फाहियान चीन से भारत में आया था और यह ईसवी सन् ४०५ से ४११ तक भारत में रहा। इसने बौद्ध धर्म को उत्तर भारत में बढ़ते हुए देखा था। उस समय भारत में सैकड़ों 'संघराम' थे जहाँ तीन दिन तक तीर्थ-यात्रियों को सत्कारपूर्वक रखा जाता था। इसने पेशावर में स्थित एक स्तूप देखा था जो भारत में सबसे ऊँचा स्तम्भ था। उसके अनुसार पूर्व के सभी राजा बौद्ध धर्म का प्रचार कर रहे थे। विद्वानों को उनका संरक्षण प्राप्त था। वे दरिद्रों को दान दिया करते थे। लोग सुखी थे। वे किसी प्रकार की चुंगी नहीं देते थे और उन पर कोई राजकीय प्रतिबन्ध नहीं था। अप-राधियों को मामूली दंड दिया जाता था। अपराध बहुत कम होते थे। लोग सच बोलते थे। फाहियान ने अशोक का राजप्रासाद देखा था और उसके अनुसार इस प्रासाद का निर्माण तथा इसमें चित्रित शिल्प मानवीय

कार्य नहीं था। उसने इस प्रासाद के निकटस्थ महायान और हीनयान मठों को देखा था। इन मठों में विश्व के सभी भागों से आए हुए ६००–७०० पंडित एवं साधु लोग रहते थे। उनके व्यवहार शिष्ट एवं सदाचारपूर्ण थे। ब्राह्मण शिक्षक (गुरु) मंजुश्री, महान श्रमण, कहे जाते थे और समस्त भिक्षु-साधु उनका बड़ा आदर करते थे। बिहार के नगर भारत में सबसे बड़े नगर थे। प्रजा धनवान एवं समृद्ध थी। सभी प्रकार के अस्पताल बने हुए थे। जहाँ लोगों की निःशुल्क चिकित्सा की जाती थी।

## ह्वेनसाँग या युवान च्वाँग

यह यात्री ईसवी सन ६३० में भारत में आया था और यहाँ १५ वर्ष तक रहा था। फाहियान की भाँति यह भी सच्चे धर्म (बौद्ध धर्म) की खोज में यहाँ आया था। सम्राट हर्ष ने प्रयाग में जो धार्मिक समारोह किए थे और महायान पर विचार विमर्श करने के लिए उसने जिस धार्मिक सम्मेलन का आयोजन किया था उसका इसने पूर्ण विवरण दिया है। इसके अनुसार उक्त धार्मिक सम्मेलन में सहस्त्रों बौद्धों, ब्राह्मणों तथा जैन विद्वानों के अतिरिक्त २० राजाओं ने भाग लिया था। इस सम्मेलन में कई अद्भुत दृश्य थे। एक ऊंचे स्तम्भ पर बुद्ध की एक स्वर्ण प्रतिमा प्रस्तुत की गई थी तथा साक्य मुनि की एक मूर्ति को हाथियों के शानदार जुलूस के साथ सभा–मंडप तक लाया गया था। प्रयाग में आयोजित समारोह में भारत के समस्त भागों से लगभग ५०,००० लोग आए थे। इन लोगों को सम्राट ने दान दिया था। बुद्ध, आदित्यदेव (सूर्य) तथा ईश्वर देव (शिव) की मूर्तियाँ क्रमशः स्थापित की गई थीं और सदाव्रत बाँटे गए थे। जब पाँच वर्षों का संचित धन समाप्त हो गया तब सम्राट ने पुराने वस्त्र धारण कर लिए और उसने १० प्रदेशों के बुद्धों की आराधना की। इस यात्री के अनुसार उस समय के लोग साफ–सुथरे रहते थे, सुन्दर वस्त्र पहनते थे और अल्पव्ययी थे। जूता पहनने का रिवाज बहुत कम था। "लोग अपने दाँतों को काले या लाल रंग से रंगते थे, अपने केश बाँधते थे और आभूषणादि पहनने के लिए कानों को छिदवाते थे।" लोग धनी और सम्मानपूर्ण थे। दक्षिण लोगों के विषय में उसने लिखा है कि "वे अपनी भलाई करने वालों के प्रति कृतज्ञ थे, परन्तु अपने शत्रुओं के ति सख्त और कठोर थे।" यदि उनका अपमान किया जाता था तो वे बदला लेने के लिए अपने जान को भी जोखिम में डाल देते थे। इस यात्री ने आगे लिखा है कि "यदि कोई सेनापति युद्ध में पराजित हो जाता था तो उसे कोई दंड नहीं दिया जाता था बल्कि उसे स्त्रियों की

पोशाक पहना कर निकाल दिया जाता था ताकि वह स्वयं अपनी मौत की तलाश कर ले।

आइसिंग ईसवी सन् ६८५ में भारत में आया था। इस समय भारत की स्थिति बिगड़ गई थी। इस पर बिहार में कई बार डाकुओं के हमले हुए थे। परन्तु इस समय भी बौद्ध मठों की प्रगति जारी थी। इन मठों की उन्नति एवं व्यवस्था के लिए राजाओं ने भूमिदान दिए थे। ताम्रलिप्ति में उस समय शिक्षा की जो प्रारम्भिक प्रणाली थी उसका आइसिंग ने मनोरंजक विवरण दिया है। इस समय भारतीय बालकों की शिक्षा ६ वर्ष की आयु में आरम्भ होती थी। उन्हें ३०० श्लोकों की वर्णमाला की एक पुस्तक में संस्कृत वर्णमाला के ४९ अक्षर पढ़ाए जाते थे। यह पुस्तक ६ महीने में कंठस्थ कराई जाती थी। आठ वर्ष की आयु में १००० श्लोकों में पाणिनि के व्याकरण के सरल रूपान्तर का पढ़ाना शुरू किया जाता था। दस वर्ष की आयु में शब्द रूप, धातु रूप, कारक, सन्धि तथा संस्कृत शब्दों के निर्माण सम्बन्धी नियम पढ़ाए जाते थे और १३ वर्ष की आयु में वे पाणिनि का पूर्ण व्याकरण पढ़ने लगते थे। इसके बाद उनको स्वयं गद्य और पद्य में अपनी रचनाएं करनी पड़ती थीं तथा वे तर्कशास्त्र एवं वेदान्त का अध्ययन करते थे।

१—डा. ए. एस. अल्तेकर द्वारा सम्पादित "ए न्यू हिस्ट्री आफ दि इंडियन पीपुल"—वालूम ६, पृष्ठ ३६१–३६२।

२—"दि पेजेन्ट आफ इंडियाज़ हिस्ट्री", पृष्ठ २७५–२७६।

३—"दि विज़न आफ इंडिया"—एस. के. मित्रा—पृष्ठ २०–२२।

# नवाँ अध्याय

## विदेशों में भारतीय संस्कृति

भारतीय इतिहास की मनगढ़न्त कहानियों में से एक यह है कि भारतीयों ने पर्वतों तथा समुद्रों के पार जाना बन्द कर दिया था ; उन्होंने न किसी अन्य देश को प्रभावित किया और न किसी देश से प्रभावित हुए; तथा वे कूपमंडूक, अनुद्यमी, कायर तथा असाहसिक हैं। यह मनगढ़न्त कहानी अब झूठी सिद्ध हो गई है। एशिया महादेश के व्यापक क्षेत्र की सभ्यता एवं इतिहास के निर्माण में भारतीयों ने प्रमुख भाग लिया है। भारत को "वृहत्तर भारत" का नाम दिया गया है और यह शब्द प्राचीन काल में इन देशों में भारतीय प्रभाव के प्रसार का द्योतक है। हमारा पश्चिम के समस्त देशों से व्यावसायिक तथा साँस्कृतिक सम्पर्क था, यद्यपि इस अध्याय में हमारा ध्यान ग्रीस और रोम तक ही सीमित रहेगा।

हड़प्पा तथा मोहेंजोदड़ों के स्मारक संबंधी आविष्कारों तथा बोगाज़ कोई स्थित प्रसिद्ध शिलालेखों, जिनमें वैदिक देवताओं के उल्लेख हैं,की खोज से यह स्पष्ट हो गया है कि ४,००० वर्ष से अधिक समय पूर्व भी भारत और पश्चिमी देशों में साँस्कृतिक समागम था। और यदि महाभारत की कथाओं को प्रमाण माना जाय तो हम अमेरिका (पाताल लोक) तक गए थे। माया सभ्यता के विषय में हाल में जो खोज हुए हैं उनसे यह सिद्ध होता है कि भारत एवं अमेरिका की प्राचीन सभ्यताओं में निकट सम्पर्क था।

हम यह भी जानते हैं कि भारत और ईरान के पवित्र धार्मिक ग्रन्थों (ऋग्वेद तथा अवेस्ता) के अनुसार इन दोनों देशों में निकट सम्पर्क था। इन दोनों ग्रन्थों में सामान्य सीमा प्रदेश या भारत – ईरानी सीमा प्रदेश के साँकेतिक उल्लेख मिलते हैं। अवेस्ता में भारत को "हिन्द", जो संस्कृत शब्द सिन्धु से निकला है, कहा गया है। ईसा-पूर्व छटवीं शताब्दी में निश्चित राजनीतिक संबंध पाए जाते हैं। साइरस से लेकर डेरियस, जर्जेस तथा डेरियस तृतीय तक ईरानी राजाओं का भारत के उत्तर–पश्चिमी प्रदेश पर आधिपत्य था और ईसा के ५२२ वर्ष पूर्व से लेकर ४८६ पूर्व तक पंजाब डेरियस का उपनिवेश था। ईरानियों की ओर से एक भारतीय सेना ने यवनों से युद्ध किया था। बाद में ईसा के ३२६ वर्ष पूर्व

हुए सिकन्दर के आक्रमण ने निश्चित रूप में भारत तथा पश्चिम के मार्ग खोल दिये थे। इस समय से लेकर ईसवी सन् की छटवीं शताब्दी तक भारत एवं पश्चिम, विशेषतः भारत और रोम साम्राज्य, में बड़ा समागम जारी रहा। बाद में भारतीय संस्कृति ने अरब से होकर यूरोप में प्रवेश किया।

व्यापारिक मार्गों के कारण उक्त समागम में और भी सुविधा रही। प्रागैतिहासिक काल से ही तीन बड़े व्यापारिक मार्गों से भारत तथा पश्चिम परस्पर संबंधित थे। इन मार्गों में ईरान की खाड़ी का मार्ग सबसे सरल था। यह मार्ग सिन्धु नदी के मुहाने से इफरात तक और वहाँ से उस स्थान तक गया था जहाँ इसकी दो शाखाएँ हो गई थीं। इनमें से एक एन्टिपोक और दूसरी लेवेन्टाइन बन्दरगाहों को गई थी। इन मार्गों के अतिरिक्त एक स्थल मार्ग भी था जो उत्तर-पश्चिमी दर्रों से होकर वलख तक और वहाँ से, नदी-मार्ग या स्थल-मार्ग से होकर ओक्सस से कैस्पियन तक और उसके बाद यूक्साइन तक तथा काफिला-मार्ग से होकर कैस्पियन—द्वार होते हुए एन्टियोक बन्दरगाह गया था। एक अन्य सामुद्रिक मार्ग (तीसरा) चक्करदार था जो ईरानी और अरब तटों से, होते हुए, लाल सागर में स्वेज़ तक और वहाँ से मिस्र या 'टायर' तथा 'सिडान' तक गया था बाद में मान्सून के आविष्कार से यह मार्ग बहुत बदल गया और हिन्द-महासागर से मिस्र तक सीधा रास्ता क़ायम हो गया।

इस विस्तृत समागम का विवरण कई लोगों ने किया है जिन में यवन इतिहासज्ञ हेरोडोटस, जिनका जन्म ईसा के ४८४ वर्ष पूर्व हुआ था, मेगस्थनीज़, ऐरियन और प्लिनी, स्ट्रैबो, अज्ञात लेखक की "पेरिप्लस मेरिस इरिथी" नामक पुस्तक तथा सिकन्दरिया के टोलेमी प्रसिद्ध हैं।

भारतीय संस्कृति का पश्चिम पर और पश्चिम का भारत पर क्या प्रभाव पड़ा है इस विषय पर अभी इतिहासकार सहमत नहीं हुए हैं। अतः जो निष्कर्ष दिए जा रहे हैं वे केवल अनुमान के रूप में हैं।

सिकन्दर के समय से पूर्व भारत और यूनान (ग्रीस) में अप्रत्यक्ष रूप में समागम था। भारतीयों द्वारा ली जाई गई भारतीय वस्तुएँ लाल सागर के मुहाने में पहुंची थीं। वहाँ से अन्य लोग इनको अन्य प्रदेशों में ले गए। उस समय तक यवनों को भारत के विषय में उतना ही ज्ञान था जितना ईरानियों ने उनको बताया था इसलिए यवन लोग भारतीय संस्कृति के विषय में न तो अधिक जानते थे और न उसकी परवाह करते थे। यही नहीं, यवन लोग दूसरे लोगों को "बर्बर" समझते

थे और उनके प्रति घृणा का व्यवहार करते थे। इसके बावजूद भी विचारों का कुछ विनियम, चाहे अप्रत्यक्ष रूप में ही, अवश्य हुआ होगा। उदाहरणार्थ, प्रनर्जनय (आवागमन) में भारतीयों की भांति प्राचीन यवनों का भी विश्वास था। यह दोनों में कुछ साँस्कृतिक सम्पर्क होने का द्योतक है। "प्लेटो" के लेखों में कुछ ऐसी बातें प्रस्तुत की गई हैं जो कर्म के सिद्धाँत से बहुत मिलती-जुलती हैं। सिकन्दर के आक्रमण ने कोई तात्कालिक प्रभाव नहीं डाला वरन वह एशिया में ऐसे कई राज्य छोड़ गया जो भारत तथा पश्चिम के सम्पर्क के प्राकृतिक स्रोत बन गए। हमारे पास इस बात के प्रमाण हैं कि पंजाब तथा पश्चिमी भारत में यवन लोग तीव्र गति से हिन्दू तथा बौद्ध हुए और उन्होंने इनकी संस्कृति को अपना लिया विशेषतः कुशान काल में कला तथा मुद्रा संबंधी यवन विचारधाराओं न उत्तर-पश्चिमी भारत पर, जिसमें गान्धार कला उत्पन्न हुई थी जहाँ सुन्दर मुद्राएँ बनी थीं, अत्यधिक प्रभाव डाला था।

संक्षेप में, जहाँ तक यूनान और भारत का सम्बन्ध है, इन दोनों देशों में पारस्परिक सम्पर्क बहुत अधिक नहीं था और इसका परिणाम मुद्रा, नक्षत्रविद्या तथा शिल्प के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में बहुत मामूली था। फिर भी, जर्मन लेखक गार्ब का कहना है कि यह निश्चित रूप से मान लिया जाना चाहिए कि यवन–विचार–जगत पर ईरान के मध्यम से भारतीय प्रभाव पड़ा था। और इसके साथ साँख्य तथा वेदाँत के सिद्धान्त भारत से यूनान (ग्रीस) गए थे। मुद्रा के सम्बन्ध में रालिसन ने "इन्टर-कोर्स बिट्वीन इण्डिया एण्ड दि वेस्टर्न वर्ल्ड" में लिखा है कि "मुद्रा के विषय में भारतीयों ने प्रत्येक बात पश्चिम से सीखी है।" किन्तु इस बात को अस्वीकृति नहीं किया जा सकता कि गुप्तकाल की टकसालों के मालिकों ने कई ऐसी कलापूर्ण मुद्राएँ बनाई थीं जो पूर्णतः मौलिक थीं तथा सुन्दर कारीगरी से बनाई गईं थी और उनमें कोई विदेशी प्रभाव बिल्कुल नहीं दिखाई देता। "शेर मारने वाला," "अश्वमेध" तथा "सिंह मारने वाला" आदि चित्रों की मुद्राएँ इसी कोटि की हैं। गान्धार कला भी केवल उत्तर–पश्चिम भारत में ही सीमित थीं जबकि मथुरा, अमरावती आदि अन्य कलाएँ विकसित हो रही थीं। निस्सन्देह, नक्षत्रविद्या संबंधी कुछ यवन विचारधाराओं का हम पर प्रभाव पड़ा था। वाराहमिहिर ने इस विद्या में यवनों के योगदान का उल्लेख किया है और गार्गी संहिता में कहा गया है कि "यवन बर्बर हैं, फिर भी खगोल–विज्ञान को उन्होंने ही निकाला है, इसके लिए वे देवताओं की भाँति श्रद्धा के पात्र हैं।"

ईसाई धर्म तथा रोमसाम्राज्य के जन्म के साथ भारत और पश्चिम का सांस्कृतिक सम्पर्क और भी व्यापक हो गया। विशेषतः रोमसाम्राज्य और भारत के बीच बढ़ते हुए व्यापार ने इस सम्पर्क को और भी व्यापक बनाया। यह अब सर्वस्वीकृत है कि ईसाई धर्म की कुछ विचारधाराओं पर भारतीय प्रभाव है। अस्थि-पूजा, माला के उपयोग, ईसाई धर्म की कई व्यवस्थाओं में "सन्यास" का महत्व, अनेक स्वर्ग होने का सिद्धांत, "सरमन आन दि माउन्ट" में दिया गया ईसा का "अहिंसा" का सन्देश तथा ईसाई गिरजाघरों और प्राचीन बौद्ध चैत्यों में सामंजस्य आदि इस प्रभाव के उदाहरण हैं। यह और भी दिलचस्प बात है कि ईसाई धर्म में महात्मा बुद्ध को जोसेफात नामक ऋषि के रूप में ले लिया गया है और उनकी पूजा होती है। भारतीय गल्प तथा कथाएँ भी पश्चिम में पहुँच गई थीं। यह सब मध्य तथा पश्चिमी एशिया में बढ़ते हुए बौद्ध धर्म तथा ब्राह्मणधर्म के प्रभाव का परिणाम था। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के नए धर्म तथा बौद्धधर्म में निकट सामंजस्य है। प्लेटो के अनुयायी तपस्या के द्वारा अपने शरीर से अपने आत्मा को मुक्त करने तथा 'परमात्मा' में मिलकर एक हो जाने का प्रयास करते हैं। यह योग का सिद्धान्त है और यह बौद्ध धर्म में भी मिलता है।

रोम साम्राज्य के समय में सिकन्दरिया बहुत बड़ा सांस्कृतिक तथा आर्थिक केन्द्र था और भारतवासी इससे भली भांति परिचित थे। सिकन्दरिया से दोनों ओर विचारधाराएँ गईं। सिकन्दरिया के पाल और उनके शिष्य सेन्ट एन्थोनी (जिनकी मृत्यु ईसवी सन् ३५६ में हुई थी) सन्यास की भारतीय विचारधाराओं से प्रभावित थे। मैनिकिस्ज्म तथा नास्टि-सिज्म जैसे ईसाई धर्म के सिद्धान्त भी भारतीय विचारों से प्रभावित हैं। सन् १८४२ में अबे हक नामक एक यात्री ने लासा (तिब्बत) का भ्रमण किया था। वह कैथोलिक तथा तिब्बती उत्सवों में सामंजस्य देखकर चकित हो गया था। उसने लिखा है कि "बौद्ध मठों के अध्यक्षों (पादरियों) की छड़ी, टोपी, वस्त्र आदि हमारे पादरियों के समान हैं। ईश्वरीयवेदी की चौकी, भजन, मंत्र, पाँच जंजीरों का धूप-दान, अपने भक्तों के सिर के ऊपर हाथ फैलाकर लामाओं का आशीर्वाद देने का तरीका, माला, बौद्ध भिक्षुओं का हमारे पादरियों के समान अविवाहित रहना, उनका संसार से अलग रहना, ऋषि-पूजा, जुलूस, प्रार्थनाओं के निश्चित संग्रह आदि कई बातें हमारे ईसाई धर्म की सी हैं।"

हम अपनी लोक-कथाओं तथा अपने अंको के पश्चिम जाने का पहले ही उल्लेख कर चुके हैं। उक्त सब बातों से यह स्पष्ट है कि प्राचीन काल में भारत ने स्वयं पश्चिम से प्रभावित होने से कहीं अधिक पश्चिम पर प्रभाव डाला था। सांस्कृतिक क्षेत्र में पश्चिम भारत का ऋणी है इस बात को पश्चिम के लोगों ने स्वीकार कर लिया है। अमरीकी दार्शनिक विल डुरांट ने लिखा है कि "भारत हमारी जाति की मातृभूमि और संस्कृत यूरोपीय भाषाओं की माता थी; वह हमारे दर्शन की माता है; अरबों के द्वारा वह हमारे गणितशास्त्र के अधिकांश की माता है; बुद्ध के द्वारा वह ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की माता है; गाँव सम्प्रदायों के द्वारा वह स्वापत्त-शासन तथा प्रजातंत्र की माता है। भारत माता अनेक रूपों प्रथा में हम सभी की माता है।"

भारत की पूर्वी सीमाओं से सम्बन्धित देशों तथा चीन, स्याम, हिन्द-चीन, मलाया, पूर्वी द्वीपसमूह (जावा, सुमात्रा आदि) दक्षिण-पूर्वी एशिया स्थित देशों तथा लंका पर भारतीय संस्कृति का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था। मध्य एशिया एवं तिब्बत भी भारतीय संस्कृति से प्रभावित थे। यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि औपनिवेशिक साम्राज्य सम्बन्धी भारतीय विचारधारा पश्चिम की आधुनिक साम्राज्यवादी विचारधाराओं से अत्यधिक भिन्न थी। हिन्दू दक्षिण-पूर्वी एशिया में गए और वहाँ उन्होंने अपने उपनिवेश बनाए। परन्तु उन्होंने इन उपनिवेशों को अपनी अतिरिक्त जनसंख्या का निवास-स्थान या अपने बढ़ते हुए व्यापार के लिए अतिरिक्त बाजार नहीं समझा। ये उपनिवेश विजेताओं के हितार्थ शोषण के स्रोत नहीं माने जाते थे। हमारा उद्देश्य (मिशन) सांस्कृतिक था। जहाँ कहीं भी हम जाकर बसे, हमने वहाँ अपनी संस्कृति एवं सभ्यता फैलाई और हमने भी वहाँ की संस्कृति को अपनाया। इस प्रकार एक नई संस्कृति निकली जो निश्चित रूप में भारतीय थी। हिन्दू लोग वहाँ भारत में अंग्रेजों की तरह विदेशी के रूप में नहीं रहे वरन् वे उस भूमि के सन्तान बन गये।

लंका द्वीप का द्वार सर्वप्रथम भारत के लिए खुला था। भारतीय व्यापारी और राजा वहाँ पहले गये और उनके बाद बौद्ध भिक्षु वहाँ पहुँचे।

अशोक के समय से ही यह यात्रा प्रारम्भ हो गई थी। उसी समय से बौद्ध धर्म लंका का मुख्य धर्म चला आरहा है। लंका में सबसे

पहले जो लोग बसे थे वे उत्तर से गये हुए आर्य थे तामिल नहीं। राम और रावण की कथा इस बात का स्पष्ट उदाहरण है। ईसा के पूर्व पाँचवी शताब्दी में बंगाल के राजा विजयसिंह लंका में जाकर बसे थे। यहीं से लंका में आर्यों का आगमन प्रारम्भ हुआ। आर्यों और द्रविड़ों के संयोग से 'सिंहली' लोगों का जन्म हुआ। भारत से ही यहाँ चावल की खेती शुरू हुई। इसी प्रकार लंका में संगीत, नाटक, नृत्य, धातु के काम, निर्माण कार्य, शिल्प आदि भारतीय कला-कौशल भी प्रचलित हो गए। परन्तु लंका ने जिस उत्साह, निष्ठा एवं पवित्रता से बौद्ध धर्म और आचार-विचार, नियमादि की रक्षा की है वह सबसे बड़ा योगदान है। लंका से ही संसार को बौद्ध धर्म की वे अधिकारपूर्ण कथाएं ज्ञात हुई हैं जो वहाँ पाली भाषा और लिपि में लिखी रखी हुई थीं। पाली में लिखित लंका के बौद्ध इतिहास दीपवंश और महावंश बहुत प्रसिद्ध हैं। बोधिवृक्ष का एक भाग लंका में ले जाकर लगाया गया था जिसका एक टुकड़ा वहाँ अब भी मौजूद है। यह संसार में सबसे पुराना ऐतिहासिक टुकड़ा (पेड़ का) है। बुद्ध की अस्थियाँ भी लंका में गई थीं। अशोक की ब्राम्ही लिपि में लिखित लंका स्थित शिलालेखों में बौद्ध भिक्षुओं को दिए गए धार्मिक दानों का विवरण है। लंका के स्तूप इस बात के प्रमाण हैं कि लंका भारत की कलात्मक प्रतिभा का कितना ऋणी है। इसी प्रकार लंका की संस्कृति व सभ्यता भी भारत के प्रति ऋणी है।

बर्मा से भारत के सम्बन्ध स्थल मार्ग के बजाय बंगाल की खाड़ी के मार्ग से अधिक बढ़े। पाली जातकों में ईसा के पूर्व पाँचवीं शताब्दी में भारतीयों द्वारा पूर्व की ओर की गई जलयात्राओं के उद्धरण हैं। ये यात्रायें सुवर्ण-भूमि या सुवर्ण द्वीप के लिए की गई थीं। इस सुवर्णभूमि में सम्पूर्ण बर्मा तथा 'पूर्वी द्वीपसमूह' (जावा आदि) सम्मिलित रहे होंगे। बौद्ध धर्म की पौराणिक कथाओं में बर्मा को भेजे गए 'सोन' और 'उत्तर' नामक अशोक के दो धार्मिक प्रतिनिधि मंडलों (मिशनरियों) का उल्लेख है। कहा जाता है कि निचले बर्मा के लोग आसाम की "खासी" जाति के लोगों से जातिगत रूप में सम्बन्धित हैं। प्रोम (निचला बर्मा) में ईसवी सन् की छठवीं शताब्दी के स्तूपों तथा अन्य वस्तुओं के भग्नावशेष पाए गए हैं। इनमें से एक स्तूप बड़ी रोबदार इमारत है और पाँच चबूतरों पर बनी हुई है। प्यू के चरित्र से सम्बन्धित २० स्वर्ण-पत्रों में लिखित एक हस्तलिपि भी पायी गई है। यह लिपि सीधे भारत से यहाँ आई थी और इसमें तथा कन्नड़-तेलगू

लिपि में अत्यधिक सादृश्य है। इस भाग के राजाओं की उपाधियाँ भी वर्मन तथा विक्रम हैं जो भारतीय उपाधियाँ हैं। बाद में ११वीं शताब्दी में इस को ऊपरी बर्मा के 'अनाव्रत' राजा ने विजय किया और वह यहाँ से बौद्ध सिद्धान्तों, ग्रन्थों, भिक्षुओं, भाषा तथा समस्त कला-कौशल को अपने राज्य (ऊपरी बर्मा) ले गया। मन्दिरों के धातु के बने हुए घन्टे-घड़ियाल, बौद्ध पौराणिक कथाओं के सुनहले और काले रोगन के चित्र, मीनाकारी की आश्चर्यपूर्ण वस्तुएँ, सफेद रंग और घन्टे के आकार के बड़े-बड़े पैगोडा तथा सोते और मुस्कराते हुए बुद्ध की मूर्तियाँ आदि से यह स्पष्ट है कि बर्मा ने अपने योगदान सहित बौद्धधर्म को अपनाया था।

मलाया में भी भारतीय विचारधाराएँ गई और वहाँ अनेकानेक भारतीय जा कर बसे। अभी तक यहाँ जो खोज हुए हैं उनमें पत्थरों के शिलालेख, स्तूप, मठ तथा हिन्दू देवताओं की कई मूर्तियाँ पायी गई हैं। ईसवी सन् के प्रारम्भ काल में अधिकाधिक संख्या में भारतीय मलाया में गए। यहाँ ब्राह्मण-धर्म, बौद्ध-धर्म दोनों ही खूब पनपे। पत्थर के शिलालेखों में बंगाल बुद्धगुप्त नामक एक महान् नाविक का उल्लेख है जिसने मलायावासियों को कुछ विशेष दान दिए थे। मलाया की सीमा के स्याम पक्ष के स्मारक सबसे अधिक प्रभावोत्पादक हैं। ये स्मारक भैया तथा नारवोन श्री थम्मारत में हैं। इन स्थानों में मन्दिर, स्तूप तथा बुद्ध की मूर्तियाँ हैं। इनका ढंग गुप्त या दक्षिणी भारत के पल्लव राजाओं का सा है। चीनी इतिहास में ईसवी सन् की छठी शताब्दी में मलाया से गए हुए राजदूतों तथा मलाया के हिन्दू राजाओं का उल्लेख है जो संस्कृत भाषा प्रयोग में लाते थे। मलाया को दूर-पूर्व में भारतीय औपनिवेशिक साम्राज्य का मुख्य द्वार कहा जा सकता है। वहाँ बौद्ध और हिन्दू दोनों धर्मों का प्रसार हुआ था। मलाया ऐसा स्थान था जहाँ से भारतीय संस्कृति के प्रभाव की लहरें दूर पूर्व की ओर प्रवाहित होती थीं। मलाया के पश्चिमी तट के निवासियों में भारतीयता की विशेषताएँ पायी जाती हैं तथा नारवोन और पटालुंग में भारत के जन्मे ब्राह्मणों के उपनिवेश अब भी जीवित हैं।

भारत के लोग स्याम और हिन्द चीन में भी गए थे। कौन्दीर्य नामक एक ब्राह्मण ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी में कम्बोडिया में पहुँचा था। उसने वहाँ की रानी को हरा कर उसके साथ विवाह करके वहाँ प्रथम भारतीय राज्य की स्थापना की। इस देश को चीन के लोग फुनान कहते थे। धीरे-धीरे इस राज्य ने हिन्दचीन तथा दक्षिणी स्याम आदि पड़ोसी

राज्यों को अपने अधीन कर लिया और फुनान राज्य ६०० वर्षों तक कायम रहा। वहाँ के आदिम वासी लोगों ने शीघ्र ही भारतीय आचार–व्यवहार, वस्त्र, धर्म, दर्शन तथा कलाओं को अपना लिया। उनका एक प्रतिनिधि–मण्डल ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी में भारत आया था। फुनान में पक्की ईंटों के बने हुए ६० हिन्दू मन्दिरों के भग्न अवशेष हैं। इन अवशेषों में, जैसा प्रकट है, वहाँ शिव और विष्णु दोनों की पूजा होती थी। बौद्ध धर्म का भी आँशिक प्रभाव था। ईसवी सन् की द्वितीय या तृतीय शताब्दी में निचले बर्मा से गए हुए 'मोनों' ने मध्य स्याम में द्वारावती नामक एक अन्य राज्य स्थापित कर लिया था। यहाँ अमरावती कला की काँसे की मूर्तियाँ, गंगा घाटी की 'गुप्त' मूर्तियाँ, स्तूपों और मठों के भग्नावशेष तथा 'पल्लव' लिपि में लिखे हुए बौद्ध सिद्धान्त पाए गए हैं। द्वारावती ने आधुनिक स्यामियों के मंगोल पूर्वजों का धर्म–परिवर्तन भी कराया था। इन लोगों ने बौद्ध मन्दिर बनवाए थे। यहाँ बौद्ध शिल्प कला पर स्यामी प्रभाव पड़ा जिसके फलस्वरूप प्रसिद्ध स्यामी बुद्ध (जो पैगोडा के ढंग पर बनी हुई है और जिसकी मुखाकृति अंडाकार है तथा मुख पर एक विचित्र ढंग की मुस्कराहट है) का प्रादुर्भाव हुआ। यह मूर्ति प्रायः चीनी मिट्टी के टूटे टुकड़ों से बनाई गई थी। आज तक स्याम में हिन्दू आचार–व्यवहार और रहन–सहन के ढंग तथा रावण पर राम के विजय के द्योतक दशहरा जैसे उत्सव आदि प्रचलित हैं।

लेकिन हिन्दचीन में 'चम्पा' और 'खमेर' नामक दो सबसे प्रसिद्ध राज्य थे। चम्पा, जो अब अन्नाम का एक भाग है, उस समय कम्बोडिया के बिल्कुल पूर्व में स्थित था। दूसरी शताब्दी में हिन्दुओं ने यहाँ के लोगों को अपने अधीन कर लिया था। यहाँ हिन्दुओं ने शताब्दियों तक राज्य किया। उन्होंने वहाँ के लोगों को पूर्णतः हिन्दू बना लिया था। इस काल में यहाँ महत्वपूर्ण शिल्प तथा पक्की ईंटों के मन्दिर बने थे। माइसोंग और डोंग-डुआँग नामक मन्दिरों के दो नगर बहुत प्रसिद्ध हैं। इन नगरों में जिन देवताओं की पूजा प्रचलित थी उनमें शिव, उनकी शक्ति तथा गणेश और स्कन्द नामक उनके दो पुत्रों का सबसे प्रथम स्थान था। विष्णु, कृष्ण एवं बुद्ध अन्य देवताओं में थे। चम्पा की शिल्प–कला ने पूर्णरूपेण गुप्तकला एवं उसके ढंग का अनुसरण किया था। यह कला भी सादगीपूर्ण, प्राकृतिक एवं रोबदार थी। संस्कृत लेख भी पाए गए हैं जिनमें से एक में शक सम्वत्सर की एक तिथि का उल्लेख है। चम्पा के मन्दिर अपनी सजावट के लिए प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारों तथा स्तम्भों पर सुन्दर–सुन्दर दृश्य चित्रित हैं।

परन्तु भारतीय प्रभाव के कमजोर होने के साथ–साथ चम्पा की कला भारी और भद्दी होती गई। इस उपनिवेश का नाम सम्भवतः वर्तमान भागलपुर के 'चम्पा' से लिया गया था। इस प्रकार चम्पा के राजदरबार और समाज दोनों ब्राह्मण संस्कृति से परिपूर्ण थे।

खमेरों का कम्बोडियन राज्य उन समस्त राज्यों में सबसे अधिक सुदृढ़ था जिनका अन्य राज्यों पर १४वीं शताब्दी तक प्रभुत्व था। १४वीं शताब्दी में स्याम ने इस राज्य को नष्ट कर दिया। इस राज्य की राजधानी 'अंकोर थोम' थी। सन् १८६१ (१९वीं शताब्दी) में इस राज्य के नगरों तथा मन्दिरों के भग्नावशेष पाए गए हैं। खमेरों का विश्वास था कि 'कम्बु' नामक एक भारतीय ऋषि उनके पूर्वज थे और इसीलिए उनका देश कम्बुज या कम्बोडिया कहा जाता था। चीनियों ने इस राज्य का पराधीन राज्य के रूप में उल्लेख किया है जो फुनान को कर देता था। वहाँ के हिन्दू शासकों (राजाओं) ने फुनान पर अधिकार कर लिया था। इन राजाओं के नाम भारतीय थे और उनके नामों के अन्त में "वर्मन" लगता था। ये लोग बहुत युद्धप्रिय थे और हिन्दू तथा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे।

कम्बोडिया के जंगलों एवं पर्वतों में ६०० से अधिक खमेर स्मारकों के भग्नावशेष हैं। इनमें मन्दिर, राजप्रासाद, जलाशय तथा पुल हैं जो बहुत बड़े–बड़े हैं। ये सभी महान् स्मारक अंकोर थोम (राजधानी) के निकट हैं। अंकोर शब्द का अर्थ नगर और थोम का अर्थ महान है। इन मन्दिरों में सर्वाधिक प्रसिद्ध अंकोर वाट नामक मन्दिर है। यह मन्दिर संसार में सबसे बड़ा मन्दिर है। यह १२वीं शताब्दी में निर्मित हुआ था। इस मन्दिर में निर्माणकला की पूर्णता है।

ध्वज प्रस्तरों का एक मार्ग एक चौड़ी खाई के किनारे स्थित मुख्य मार्ग से मन्दिर के बाहरी (प्रवेश) दालान या बरामदे तक गया हुआ है। यह बरामदा बहुत फैला हुआ है और मन्दिर के चारों ओर की दीवालों का अगला भाग है। यह वृहत् मन्दिर एक चक्र के बीच तीन समकोण कक्षों के रूप में है। ये कक्ष एक दूसरे से दुगुने ऊँचे हैं। इन कक्षों में सीढ़ियाँ और खुले बरामदे हैं। सबसे अन्दर के कक्ष पर ५ लम्बे गुम्बज हैं। इन गुम्बजों के बीच का गुम्बज जमीन से २१३ फीट ऊँचा है।

इस वृहत इमारत की बनावट इतनी सुन्दर है कि यह पत्थर की नहीं

बल्कि लकड़ी की बनी हुई मालूम देती है। इसकी दीवालों पर फूलों, पक्षियों, नृत्य करती हुई लड़कियों, मन्दिर की नर्तकियों और आभूषणों के चित्रों की सजावट है। खमेर कलाकारों को, जिन्होंने इसकी खुदाई की है, इस निर्माण कार्य में पूरा जीवन लगाना पड़ा होगा। प्रथम कक्ष में रामायण तथा महाभारत की कथाओं पर आधारित चित्र हैं। इस मन्दिर में अन्य देवताओं के चित्रों के अतिरिक्त विष्णु के चित्र अधिक हैं। राजाओं के भी चित्र अंकित हैं और कुछ स्थानों में खमेरों की भाषा अंकित है। पत्थरों की पट्टियों पर उनका दर्शन भी प्रकट किया गया है जिसमें बुराइयों की निन्दा की गई है और यम द्वारा अच्छे लोगों को पुरस्कृत किए जाते हुए दिखाया गया है। यम के साथ चित्रगुप्त को मानव जाति का सम्पूर्ण विवरण रखने वाले के रूप में दिखाया गया है। एक दूसरा मन्दिर महायान बौद्ध देवता 'प्रज्ञापरमिता' का है। इसका नाम "ता प्राह्म" है। राजधानी में बेयन नामक एक और मन्दिर था जो अंकोरवाट के बाद आकार में सबसे बड़ा मन्दिर था। इसमें पाँच मीनारें हैं। वैदिक विद्या, खगोल विद्या, व्याकरण, तर्क विद्या एवं साहित्य आदि समस्त विद्याओं को खमेरों का संरक्षण प्राप्त था। खमेरों ने दुनियाँ को सबसे बड़ा मन्दिर दिया और उन्होंने पत्थरों पर भारत के सुन्दर-सुन्दर विवरण तथा कथाएँ अंकित करायीं और उक्त अवशेषों के रूप में उन्होंने पूर्व पर भारत की साँस्कृतिक विजय का सबसे उज्ज्वल प्रमाण दिया।

इंडोनेशिया में, मुख्यतः जावा, सुमात्रा, बोर्नियो तथा बाली में भी भारतीय उपनिवेश बसाए गए थे। इस पूरे प्रदेश का नाम "सुवर्ण द्वीप" रखा गया था। सुमात्रा में अभी पूरी तरह खोज नहीं हुई है परन्तु फिर भी स्तूपों के भग्नावशेष, भारतीय मूर्तियाँ एवं लेख (शिलालेख) पाए गए हैं। ईसवी सन् की चौथी शताब्दी में या इससे पूर्व सुमात्रा में श्री विजय का हिन्दू राज्य स्थापित हुआ था। यह राज्य सातवीं शताब्दी में बड़ा शक्तिशाली हो गया था। परन्तु हमारे दृष्टिकोण से जावा अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यहाँ लेख तथा निर्माण-कला सम्बन्धी अवशेष अधिक संख्या में हैं।

जावा के लोगों का यह निश्चयपूर्वक कथन है कि अगस्त्य ऋषि भारत से यहाँ आए थे और बस गए थे। ईसवी सन् की द्वितीय शताब्दी में सम्भवतः भारतीय लोग यहाँ पहली बार आए थे। जावा निवासियों के इतिहास के अनुसार ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी में यहाँ बीस हजार भारतीय परिवार आए थे। चीनी इतिहास में जावा से ईसवी सन् १३२ में देव वर्मन द्वारा चीन भेजे गए एक राजदूत का उल्लेख है। फाहियान ने भी जावा को

पाँचवीं शताब्दी में ब्राह्मण धर्म का गढ़ बताया है। बाद में यहाँ बौद्ध धर्म का भी प्रसार हो गया था।

सातवीं शताब्दी में सुमात्रा के श्री विजय ने जावा पर अधिकार किया। बाद में सुमात्रा के श्री विजय को सम्भवत: मलाया हिन्दू राज परिवार के शैलेन्द्रों ने हराया और सुमात्रा पर उनका अधिकार हो गया। १२वीं शताब्दी के अन्त तक इस राज परिवार ने जावा, सुमात्रा और मलाया के १५ राज्यों को अपने अधीन कर लिया था। बाद में भारत के चोल राजवंश ने इस राजवंश की सार्वभौम सत्ता को चुनौती दी और इन दोनों राजवंशों में लगभग एक शताब्दी तक लम्बा युद्ध हुआ जिसके फलस्वरूप शैलेन्द्र राजवंश के लोग अत्यन्त कमजोर हो गए और १३वीं शताब्दी तक इस राजवंश का अन्त हो गया।

जहाँ हिन्दचीन में सबसे वृहत और सुन्दर मन्दिर है, वहीं जावा में सबसे शानदार बौद्ध स्मारक पाया जाता है। यह बोरोबुडर का प्रसिद्ध स्तूप है जो मध्य जावा के केडू समतल भूमि में स्थित है। जावा में बौद्ध तथा हिन्दू धर्म के अन्यान्य प्रसिद्ध मन्दिर भी हैं। उत्तर भारतीय अक्षरों में खुदे हुए शिलालेख भी पाए गए हैं और यहाँ के प्रमाणों से यह ज्ञात होता है कि शैलेन्द्र राजवंश का बंगाल के पाल राजवंश से संबंध था।

बोरोबुडर वास्तव में एक पर्वत का ऊपरी भाग है और इसमें पत्थर के ९ बड़े-बड़े और ऊँचे चबूतरे काट कर बनाए हुए हैं। इनके ऊपर एक वृहदाकार स्तूप है और इसके ऊपर एक अष्टभुजी चोटी (धौरहरा) है। इन चबूतरों में कठघरे हैं और नीचे के चार चबूतरों के चारों ओर बड़े-बड़े गलियारे हैं। कठघरों के बाहरी भागों पर ऐसे अनेक ताक हैं जिनमें ध्यानी बुद्ध की ५ मूर्तियाँ हैं। ऐसी मूर्तियों की संख्या ४३२ हैं। अन्य बरामदों में ऐसी ही बुद्ध-मूर्तियाँ हैं। नीचे के चबूतरों के चार गलियारों में १५०० शिल्प-पट्टिकाएँ हैं जो सबसे महत्वपूर्ण हैं। इनमें महायान बौद्ध धर्म के ग्रन्थों की कथाएँ लिखी हुई हैं। इनमें बुद्ध के विभिन्न अवतारों के जीवन-चरित्र, युवावस्था की साधना की कथा, मैत्रेय के द्वारा प्रबुद्ध होने तक भारत भर में बुद्ध की ११० यात्राएँ, भावी बुद्ध तथा बुरे काम करने वालों को सावधान करने वाली और अच्छे काम करने वालों को प्रेरणा देने वाली अन्यान्य कथाएँ अंकित हैं। यह शिल्प-कला गुप्त-शिल्प-कला से मिलती है परन्तु इसमें बहुत सादगी

है। इसमें जावा के दृश्यों और मकानों के चित्रण से जावा का वातावरण आ गया है।

मध्य जावा में लारा-जोंगरांग का हिन्दू मन्दिर है जो चारों ओर छोटे-छोटे मन्दिरों से घिरा हुआ है। इनमें ब्रह्मा, शिव तथा विष्णु मुख्य देवता हैं। इनमें राम और कृष्ण की जीवन से सम्बन्धित कथाएँ अंकित हैं। यह शिल्प-कला जीवन और नाट्य से परिपूर्ण हैं और अंकोर-वाट की शिल्प से भी कुछ बातों में अच्छी है।

पूर्वी जावा में भी मन्दिर तथा अन्य अवशेष पाए जाते हैं। यहाँ के राजा लोग हिन्दू या ताँत्रिक बौद्ध थे।

इस पूरे काल में भारत का वहुमुखी प्रभाव जारी था। जावा की भाषा, कलाएँ, कानून, आचार-व्यवहार, साहित्य आदि हमारे ढंग पर बनाए गए थे। जावा के नृत्य, नाटकों और छोटे-छोटे खेलों में आज तक भारतीय पृष्ठभूमि पायी जाती है। इंडोनेशिया के लोग आज मुसल-मान हैं परन्तु उनके नाम हिन्दू हैं और बाली के निवासियों में अब भी हिन्दू नाम, वेश-भूषा, धर्म एवं आचार-व्यवहार अधिक मात्रा में पाए जाते हैं और नृत्य, संगीत, नाटक और कर्मकाण्डों (पूजा-पाठ-विधियों) में अब भी भारत-जावा संस्कृति जीवित है।

भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमाएँ अफगानिस्तान, पश्चिमी तिब्बत तथा रूसी और चीनी तुर्किस्तान (सिंक्यांग) पर पड़ती हैं। हिन्दूकुश से समरकन्द और इसके बाद काशगर तक एक दर्रे का मार्ग जाता है। एक अन्य दर्रा काश्मीर से पामीर तथा कराकोरम पर्वत तक गया है जो बहुत कठिन मार्ग है। ये दोनों दर्रे तिब्बत और सिंक्यांग की सीमा "टाइगर डूंगर माउन्टेन्स" पर मिलते हैं। चीन की ओर गोबी की विस्तृत मरुभूमि है। यह वृहत प्रदेश किसी समय ९ या दस शताब्दियों तक बौद्ध संस्कृति का वृहत केन्द्र था। इस बीसवीं शताब्दी में ही हमलोगों ने यह आविष्कार किया है कि सिंक्यांग के आदिवासियों में से कुछ भारत-यूरोपीय थे तथा इस मरुभूमि के नीचे बौद्धों द्वारा निर्मित प्राचीन साँस्कृतिक केन्द्र दबे हुए हैं। सबसे बड़ा अनुसन्धान सर आरेल स्टीन १९०८ में किया था जिसमें एक गुप्त स्थान में उनको २०,००० से अधिक हस्तलिपियाँ और ५५४ विभिन्न प्रकार के चित्र मिले थे। इनमें बौद्ध धर्म के ५०० पूरे ग्रन्थ,

३००० संस्कृत और ब्राह्मी भाषा के ग्रन्थ तथा अन्यान्य ग्रन्थ हैं। अन्य भग्नावशेषों में अनेकानेक हस्तलिपियाँ, स्तूप, मन्दिर और मठ पाए गए हैं। इस प्रकार इस प्रदेश में पाँचवीं से दसवीं शताब्दी तक भारतीय धर्म, कला और विद्या का प्रसार होता रहा था। ईसवी सन् की दूसरी शताब्दी तक के लेख (दस्तावेज़) पाए गए थे; इनमें से कुछ अशोक कालीन खरोष्ठि लिपि में प्राकृत भाषा में लिखे हुए हैं। ये लकड़ी, भोजपत्र, ताड़ के पत्तों और चमड़े पर लिखे हुए हैं। चीनी ग्रन्थ इससे भी पूर्व-काल के हैं और बाँस, रेशम और कागज़ में बाद में लिखे हुए हैं।

उस समय मध्य एशिया के ये राज्य असाधारण धार्मिक, साहित्यिक और कलात्मक कार्यों के केन्द्र थे। भारत से आए हुए लोगों ने इनमें नई जान डाल दी थी। इन्होंने चीन आदि देशों में अपने प्रतिनिधमण्डल भी भेजे थे। कुछ ऐसे भी राज्य थे जो हिन्दू बना लिए गए थे। कुश के भारतीय मंत्री कुच वंश के एक राजा की पुत्री के पुत्र कुमारजीव प्रसिद्ध बौद्ध अनुवादक थे। कुच राजवंश को अशोक के पुत्र कुणाल की सन्तति माना जाता है। कहा जाता है कि कुणाल को अन्धा नहीं किया गया था वरन् उसको मध्य एशिया में निर्वासित कर दिया गया था। फाहियान तथा युवान-च्वाँग ने मध्य एशिया के इन राज्यों का बहुमूल्य विवरण दिया है। इन राज्यों में शैलदेश (काशगर), कोक्कुंक (यारकन्द), दक्षिणी भाग में स्थित खोटानिना (खोटान) तथा उत्तरी भाग में स्थित कुचि (कुचार) सबसे प्रमुख थे। दक्षिणी राज्यों की आबादी में दृढ़ भारतीय तत्व थे। यहाँ भारतीय उपनिवेशों की स्थापना हुई तथा व्यापार एवं साँस्कृतिक जीवन बौद्ध धर्म के नेतृत्व में प्रारम्भ हुआ। खोटान से चीन की ओर हमारी संस्कृति का प्रसार हुआ। बौद्ध धर्म ने छटवीं शताब्दी के अन्त तक कोरिया तथा जापान पर भी विजय प्राप्त कर लिया।

मध्य एशिया की कला को पहले गाँधार और बाद में गुप्तकला से प्रेरणा मिली थी। यहाँ की मूर्तियाँ और अधिक सुन्दर और चमकदार हो गईं, उनके वस्त्रों में परिवर्तन हो गया और पवित्रता के प्रतीक सुन्दर भारतीय कमलों पर लौकिक एवं स्वर्गीय बुद्ध की मूर्तियाँ खड़ी की गईं। ऐसा प्रतीत होता है कि अजन्ता की कला भी वहाँ पहुँच गई थी। इन मूर्तियों की सजावट बहुत सुन्दर है। राजाओं और राजकुमारों ने भिक्षुओं की पीली वेशभूषा से अपने शाही वस्त्रों का विनिमय किया था और वहाँ जाकर बस गए थे। फाहियान ने सहस्त्रों आचार्यों (पुरोहितों) का वर्णन

किया है जिनमें अधिकाँश महायान सम्प्रदाय के थे। भारतीय रथ यात्रा की भाँति खोटान में मूर्तियों की वार्षिक यात्राएं (जुलूस) निकला करती थीं। फाहियान ने २५० फीट ऊँचे एक मठ का उल्लेख किया है जिसके निर्माण में ८० वर्ष का समय लगा था। यह सोना और चाँदी से जड़ा हुआ है और सुन्दर सजावट से पूर्ण है।

इस प्रकार मध्य एशिया में भी भारतीय संस्कृति ने निवास किया और वह यहाँ से दूर-दूर तक फैली और इसने पूरे सुदूर-पूर्व को बौद्ध धर्म ग्रहण कराया। मुसलमान आक्रमण कारियों के हाथों से यहाँ के बौद्ध धर्म की भी वही दशा हुई जो भारत में बौद्ध धर्म की हुई थी। मंगोल लोगों ने इसको नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

भारत के पड़ोसियों में से नैपाल और तिब्बत ने भारतीय साँस्कृतिक सम्पत्ति के अधिकाँश को सुरक्षित रक्खा है।

नैपाल काश्मीर और बंगालके बीच में पूर्व से पश्चिम की ओर ५०० मील और उत्तर से दक्षिण की ओर १०० मील लम्बा प्रदेश है। नैपाल तिब्बत के साथ एवरेस्ट का आधा मालिक है।

नैपाल की सभ्यता भारत से सुदृढ़रूप में प्रभावित है। उसके धर्म, कला, साहित्य, भाषा और रस्म-रिवाजों में भारतीय प्रभाव के सुदृढ़ लक्षण दिखाई पड़ते हैं। परम्परा के अनुसार यहाँ अशोक के द्वारा बौद्ध धर्म चलाया गया। नैपाल पर गुप्त सम्राटों की भी सत्ता थी। भारत और नैपाल के राजपरिवारों में वैवाहिक सम्पर्क हुए और इन दोनों देशों के बीच सुदृढ़ समागम प्रारम्भ हुआ। नैपाल में भारतीय धर्मों की वैसी ही प्रभुता हुई जैसी कि भारत के पड़ोसी भागों में उनकी प्रभुता हुई थी। यहाँ भी क्रमशः हीनयान, महायान, ताँत्रिक धर्म तथा हिन्दू धर्म की प्रभुता होती रही। मुसलमानों के आगमन पर राजदूत और ब्राह्मण लोग भाग कर नैपाल गए और वहाँ उनका स्वागत भी हुआ। १८ वीं शताब्दी में गुरखों ने, जो राजपूतों के ही वंशज हैं, और १६ वीं शताब्दी में भारत से भाग कर नैपाल गए थे, नैपाल को जीत लिया। १६ वीं शताब्दी में ही इन लोगों ने नैपाल में 'गुरखा' नामक एक छोटा सा राज्य क़ायम कर लिया था। इसी से उनका गुरखा नाम पड़ा। उनकी भाषा "खास" एक राजस्थानी भाषा है जिसका मूल संस्कृत है। गुरखों के साथ-साथ हिन्दू धर्म नैपाल का राज्य-धर्म हो गया।

नैपाल की १५ से २० मील लम्बी और १० मील चौड़ी छोटी केन्द्रीय घाटी में जिसमें काठमांडू, पाटन और भटगाँव नामक इसकी तीन राजधानियाँ स्थित हैं, सबसे अधिक भारत का धार्मिक तथा कलात्मक प्रभाव दिखाई पड़ता है। यहाँ हजारों मन्दिर, स्तूप तथा तीर्थ–स्थान हैं। इनमें पशुपतिनाथ का मन्दिर–नगर सबसे अधिक प्रसिद्ध है जहाँ शिव की पूजा होती है। नैपाल के निवासियों में नेवाड़ लोग जन्मजात दस्तकार (कारीगर) हैं। नैपाल में हिन्दू धर्म की निर्माण–कला का प्रतीक पत्थर का वह मन्दिर है जिस के साथ एक उससे छोटे मन्दिर पर बना हुआ एक मीनार (स्तंभ) है। नैपाल में तांबे की छतों के पैगोडा की आकृति के बने हुए लकड़ी के मन्दिर भी बनवाए गए थे। नैपाली कला बंगाल की पाल कला की भी ऋणी है। नैपाल के बहुत से कानून तथा जाति–प्रथा भारतीय हैं। इस प्रकार हिन्दू सभ्यता ने नैपाल विजय किया था। परन्तु, यहाँ भी इसने न केवल स्थानीय बल्कि चीन और तिब्बत की परम्पराओं को अपनाया था।

तिब्बत को बर्फ का प्रदेश, संसार की छत और रहस्य की भूमि कहा जाता है। यह उत्तर में नैपाल को और पूर्व में आसाम को छूता है। और पश्चिम में यह काश्मीर और उत्तर प्रदेश को स्पर्श करता है और यहाँ हमेशा महान लामा का शासन रहा है यद्यपि अब कम्युनिस्ट चीन ने इसको अपने चंगुल में ले लिया है। तिब्बत बौद्ध धर्म से प्रभावित होने वाला अन्तिम देश है। सातवीं शताब्दी में, जबकि तिब्बत के राजा स्ट्रांगचान गैम्त्रो ने नैपाल की बौद्ध राजकुमारी से विवाह किया, यहाँ नैपाल होकर भारतीय प्रभाव प्रविष्ट हुए। यह राजा इतना अधिक बलशाली था कि इसने भारत, चीन, मध्य एशिया, नैपाल तथा काश्मीर के भागों पर अधिकार कर लिया था। इसने अपने एक मंत्री को संस्कृत सीखने और तिब्बत की एक लिपि तैयार करने के लिए काश्मीर भेजा था। इसने तिब्बती व्याकरण तथा गुप्तकाल में प्रचलित संस्कृत से निकाली गयी खोटानी वर्णमाला के आधार पर एक तिब्बती वर्णमाला का आविष्कार किया था। इस राजा की चीनी तथा नैपाली रानियाँ अपने साथ बुद्ध की मूर्तियाँ ले गई थीं और तभी से तिब्बत में बौद्ध धर्म अधिक फैल गया था। इस राजा ने तिब्बत जोखाँग नामक एक सबसे प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया था। तिब्बत का अपना स्थानीय धर्म भी था जो प्रकृति–पूजा, भूत–विद्या, जादू–टोना और इन्द्रजाल का सम्मिश्रण था इसने भी बौद्ध धर्म पर अपने प्रभाव डाले थे।

कहा जाता है कि पद्मसम्भव, जिनका जन्म काश्मीर और अफगानिस्तान के बीच में स्थित सीमा-भूमि 'उदयन' में हुआ था, ईसवी सन् ६४७ में तिब्बत में पहुँचे थे और उन्होंने वहाँ लामा धर्म (तिब्बती बौद्ध धर्म) की स्थापना की थी। पद्मसम्भव ने नालन्दा में भी शिक्षा पाई थी। वे तान्त्रिक सिद्धांतों और आचार-व्यवहार से मुक्ति महायान (बौद्ध) धर्म तिब्बत में ले गए थे। शिव आदि हिन्दू देवता भी तिब्बत में पहुँच गए थे। बौद्ध धर्म के ग्रन्थ और कला भी नेपाल से होकर तिब्बत में पहुँचने लगे। नवीं शताब्दी में सन्त रक्षिता ने पुनः तिब्बती बौद्ध धर्म को नया रूप दिया। वे इसी उद्देश्य से वहाँ के राजा के आमंत्रण पर नालन्दा से तिब्बत गए थे। बाद में ११ वीं शताब्दी में काश्मीर के निवासी, कलाकार, तिब्बत गए और उन्होंने वहाँ के मन्दिरों और मठों को सुन्दर बनाया। इस प्रकार तिब्बत में ऐसी कलात्मक कृतियाँ मिलती हैं जिन पर पश्चिमी तथा पूर्वी भारत के प्रभाव हैं। भारत के धार्मिक साहित्य का तिब्बती भाषा में अनुवाद होता रहा। दो तिब्बती विद्वानों ने चंगेज़ खाँ के पौत्रों को बौद्ध बनाया था। इस प्रकार १३वीं शताब्दी में मंगोलों में भी बौद्ध धर्म फैल गया। यह और भी मनोरंजक बात है कि सन् १५७८ ई० में लामा के आगे 'दलाई' उपसर्ग एक मंगोल सरदार द्वारा लगाया गया था। इस सरदार ने तिब्बत में बौद्ध धर्म के पीत सम्प्रदाय के प्रधान को 'दलाई लामा' की उपाधि दी थी। यही दलाई लामा तिब्बत के धार्मिक एवं लौकिक शासक हैं। तिब्बत में हिन्दू और बुद्ध धर्म के साहित्य का जो अपरिमित भंडार पड़ा है वह अभी अप्रकट और असंग्रहीत हैं। इनके प्रकाश में आने पर हमें अपने इतिहास के विषय में और भी महत्वपूर्ण तथ्य ज्ञात होंगे। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि तिब्बती भाषा, लिपि, व्याकरण, कला, साहित्य एवं धर्म, मुख्यतः उस बौद्ध धर्म की उपज हैं जो भारत से वहाँ गया था।

भारतीय संस्कृति चीन तथा फिलीपाइन्स आदि अन्य दूर-पूर्वीय देशों में प्रविष्ट हो गई थी।

मनुसंहिता में चीनी लोग मिश्रित क्षत्रिय तथा महाभारत में आसाम के राजा भागदत्त के मित्र कहे गए हैं। ताँत्रिक ग्रन्थों में भी चीन का उल्लेख आया है। ऐतिहासिक रूप में चीन का भारत से उस समय सम्पर्क हुआ जब कि ईसवी सन् ६० में चीनी सम्राट मिंग-ती-सा ने बौद्ध धर्म सम्बन्धी सूचना संग्रहीत करने के लिए भारत में एक प्रतिनिधि मण्डल

भेजा था। इसके बाद इन दोनों देशों में दो मार्गों से आवागमन प्रारम्भ हुआ और दोनों देश सांस्कृतिक बन्धन में बँध गए। चीन में पहुँचने वाले सर्व प्रथम भारतीय भिक्षु कश्यप मातंग और (सिथो–भारतीय माता–पिता के पुत्र) धर्मरक्षस थे। उनके सम्मान में चीन में प्रथम बौद्ध मठ बनवाया गया था। शीघ्र ही चीन में ऐसे केन्द्र स्थापित हो गये जिनमें भारतीय ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद करने का मुख्य कार्य होता था। जो भारतीय बौद्ध धर्म फैलाने के लिए चीन गए थे उनमें अधिकांश काश्मीरी थे। चीन में 'ताँग' शासन की चार शताब्दियों का समय चीन–भारत सांस्कृतिक मैत्री का सर्वाधिक गौरवपूर्ण युग था और इस युग में चीन में बौद्ध धर्म की भारी प्रगति हुई। वहाँ सहस्रों की संख्या में भारतीय भिक्षु तथा विद्वान् एकत्रित हुए थे। चीनी कला–कौशल, हान काल के प्रस्तर–शिल्प और अवशेषों तथा चीनी संगीत एवं विज्ञानों में भी भारतीय प्रभाव स्पष्ट है। चीन के बौद्ध शिल्पों में भारतीय प्रभाव के चिन्ह हैं। प्रसिद्ध कलाकार नन्द लाल बोस का कथन है कि काई–फाँग के प्रसिद्ध पेगोडा में चित्र खुदे हुए हैं उनकी आकृतियाँ बंगालियों की हैं। पेकिंग के एक मन्दिर में तन्त्र सम्बन्धी बंगला अक्षरों में लिखित एक शिलालेख पाया गया है। फाहियान तथा ह्वेनसाँग जैसे चीनी भारत–पर्यटकों के विवरणों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। चीन में भारतीय खगोल विद्या एवं गणितशास्त्र के अध्ययन को भी प्रोत्साहन दिया गया। वहाँ भारत के कई रसायनिक द्रव्य भी प्रचलित हो गए थे। इस प्रकार चीन की संस्कृति में भारतीय विचारधाराएं गहरी प्रविष्ट हो गई हैं और टैगोर द्वारा स्थापित शान्ति निकेतन के विश्वभारती में इस विषय में बहुत अनुसन्धान किए जा रहे हैं। चौथी शताब्दी के लगभग मध्य में बौद्ध धर्म चीन से कोरिया में जा पहुंचा और छठवीं शताब्दी में कोरिया ने इसे जापान में प ंचा दिया।

## फिलीपाइन्स तथा पोलिनेसिया में प्रभाव

यहाँ की जाति एवं संस्कृति के मूल के विषय में जो अनुसन्धान हो रहे हैं वे इस दृष्टिकोण का अधिकाधिक समर्थन करते जा रहे हैं कि यह देश किसी समय दक्षिण भारत से आए हुए लोगों द्वारा बसाया गया था। फिलीपाइन्स के निवासियों की लिपियों तथा दक्षिण भारत की लिपियों में अत्यधिक सामंजस्य है। मनीला के तटों तथा लुज़ोन के तट पर स्थित कुछ स्थानों के नामों में संस्कृत भाषा दिखायी देती है। लुज़ोन के पहाड़ी

आदिवासी लोग भारतीय त्रिदेव ( ब्रह्मा, विष्णु, महेश ) के सिरों और वैदिक देवताओं की पूजा करते हैं। एक डच पुरातत्ववेत्ता द्वारा यहां गणेश की एक मूर्ति भी पाई गई है। यहाँ की कला-कौशल की वस्तुओं, लोकगीतों तथा कई सामाजिक एवं धार्मिक प्रथाओं में हिन्दूधर्म के प्रभाव दिखायी देते हैं।

कलकत्ता विश्वविद्यालय के स्वर्गीय पी० मित्रा ने कुछ पोलिनेसिया के विद्वानों के सहयोग से ओशेनिया में स्थित इन द्वीपों पर भारत के सांस्कृतिक प्रभाव की एक कहानी को प्रकट किया है। इन द्वीपों के निवासियों की शारीरिक बनावट भारत-आर्यों के समान है। इनकी भाषा संथालों के समान प्राचीन भारतीय आदिवासियों की भाषा से मिलती-जुलती है। इनके कई धार्मिक विश्वास और सामाजिक रस्म-रिवाज़ इंडोनेशिया से होकर भारत से गए हुए हैं। शंख, नाक से बजाई जाने वाली बाँसुरी आदि का उनका उपयोग यह प्रकट करता है कि ये वस्तुएं वहाँ भारत से गई हुई हैं। हवाई द्वीप का 'हूला' नृत्य और सामोआ का शिव नृत्य बंगाल के कुछ लोकनृत्यों से बहुत मिलता-जुलता है। उनके कई खाद्यान्न और पशु भारत से गए हुए हैं। उनकी परम्पराओं और धार्मिक ग्रन्थों में पुराणों की "ब्रम्हांड" की विचारधारा और गीता के अस्वस्थ वृक्ष की विचारधारा पायी जाती है। उनके सजावट करने के कई ढंग, कला-कौशल, परिपाटियाँ, लिंग-प्रतीकवाद के सिद्धान्त और मूर्तियाँ ब्राह्मण-संस्कृति से निकली हुई प्राचीन पोलिनेशियन संस्कृति के उदाहरण हैं।

## प्राग् ऐतिहासिक कालों में एशिया में भारतीय प्रभाव

प्राग् ऐतिहासिक काल में एशिया पर भारतीय संस्कृति के विषय में भी कुछ कहा जा सकता है। प्राचीन जगत में भारत ने जो व्यापक सामुद्रिक कार्य किये थे उसके फलस्वरूप उसका मिस्त्र, बैबीलोन, एसीरिया, जुडीया तथा अमरीका जैसे अनेक देशों से सम्पर्क होगया था। मिस्त्र में प्रकृति की कुछ शक्तियों, विशेषतः सौर-देवताओं के विषय में जो सिद्धान्त हैं उनमें कुछ विद्वानों के अनुसार भारतीय प्रेरणा है। उनके ओसिरिस तथा उनकी पत्नी आइसिस ईश्वर और इषि नामक वैदिक देवताओं के समान हैं। प्राचीन मिस्त्र की जाति-प्रथा हमारी जाति-प्रथा के समान थी। हेरोडोटस ने लिखा है कि मिस्त्र के निवासियों के कुछ रस्म रिवाज आर्यों के से थे। मिस्त्र

की प्राचीन राजधानी में भारतीय मूर्तियाँ तथा कुछ अन्य अवशेष पाये गये हैं। मिस्र की मृत लाशें भारतीय वेश-भषा में हैं और वे सूती भारतीय वस्त्र (रुई के बने) पहने हुए हैं।

बैबीलोनिया तथा एसीरिया में मनु की बाढ़ की कथा तथा अन्य पौराणिक कथाएँ प्रचलित हैं और बैबीलोनिया के निवासी मलमल को इसलिए "सिन्धु" कहते थे क्योंकि वह भारत में तैयार किया जाता था। उनकी खगोल विद्या, सृष्टि सम्बन्धी उनके सिद्धान्त तथा उनके देवताओं में भारतीय प्रभाव के चिन्ह दिखाई देते हैं। कुछ लोगों ने सुमेरियन संस्कृत का मूल सिन्ध घाटी की सभ्यता में बताया है। कई लेखकों का यह मत है कि सुमेरियन लोग एक भारतीय जाति के थे। महाभारत के युद्ध तथा पेन्टाटेंच, जोशुया और जुडिया के सैमुएल के महवा वर्गो की कथा में निकट सामंजस्य है। सिन्ध-घाटी-सभ्यता सम्बन्धी अध्याय में मेसोपोटेमिया पर भारतीय प्रभाव का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। अरब में ब्राह्मण लोग रहा करते थे जो "मक्केश" के रूप में शिव की पूजा करते थे। इसी 'मक्केश' शब्द से मक्का नाम निकला है, ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार भारतीय इतिहास के उषा-काल से ही भारत संसार के सभी भागों में सभ्यता की ज्योति ले जाता रहा है।

भारतीय जहाजरानी तथा बौद्ध कला की यात्राओं पर संक्षिप्त प्रकाश डाल कर हम इस अध्याय को समाप्त करते हैं।

## भारतीय जहाज़रानी

भारतीयों पर यह आरोप लगाया है कि उनमें नाविक तथा सामुद्रिक उत्साह की कमी रही है परन्तु साँस्कृतिक तथा उपनिवेश बसाने के उद्देश्य से भारतीयों द्वारा की गई जलयात्राओं की कहानियों ने इस आरोप को ग़लत सिद्ध कर दिया है। बल्कि यह भी अनुसन्धान किया गया है कि भारत के निवासी जहाजरानी की कला में बहुत आगे बढ़े हुए थे। "हिस्ट्री आफ इन्डियन शिपिंग एण्ड मैरिटाइम एक्टिविटी फ्राम दि अर्लि-एस्ट टाइम्स" नामक अपनी पुस्तक में श्री राधाकुमुद मुकर्जी ने इस विषय पर बहुत प्रकाश डाला है। इस पुस्तक में प्रारंभिक काल से लेकर साहित्य, कला, लेख, मुद्रा आदि पहचानने की विद्या आदि विषयों में योगदान का सविस्तार वर्णन किया गया है। श्री मुकर्जी ने सोदाहरण सभी युगों का चित्र प्रस्तुत करते हुए यह दिखाया है कि हम सब प्रकार

के जहाज बनाया करते थे। इन जहाजों में छोटी नावों से लेकर बड़े-बड़े सामुद्रिक जहाज होते थे जो व्यापार करने तथा लड़ाई के उद्देश्य से बनाए जाते थे। इन जहाजों का वज़न १००० टन तक होता था और इनमें हाथी-घोड़े भी लादे जा सकते थे। इन जहाजों के तथा उनके भागों के बनाने में जिस-जिस प्रकार की लकड़ी का उपयोग किया जाता था उनके विषय में सूक्ष्म निर्देश निर्धारित थे। इन जहाजों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक जहाज होते थे। 'ब्राह्मण' जहाज हल्के तथा 'क्षत्रिय' शक्तिशाली होते थे। 'वैश्य' जहाज अधिक समय तक चलते थे और 'शूद्र' जहाज़ अपने वजन के भारी होने के द्योतक थे। इन जहाजों को चुम्बकीय पर्वतों से टकरा जाने के खतरे से बचाने के लिए उनके पेंदों में लोहे का उपयोग नहीं होता था। मत्स्य-यंत्र अर्थात् कम्पास का काम पक्षियों से लिया जाता था और उन्हें इस काम की शिक्षा दी जाती थी। ये पक्षी दिशा निश्चित करते थे और भूमि के नजदीक होने का पता भी लगाते थे। जहाजों के लोगों के लिए (नाविकों के लिए) विशेष प्रकार के सिक्के चलते थे जिन पर जहाज की तस्वीर रहती थी। जहाज बनाने के कला सम्बन्धी अंग की उपेक्षा नहीं की जाती थी। ऐसे जहाज भी बनाए जाते थे जिनमें ६०० आदमी रह सकते थे। हमें १९ वीं शताब्दी तक भारत में जहाज बनाए जाने के प्रमाण मिलते हैं। १९ वीं शताब्दी में अंग्रेजों ने आकर इसे पूर्णतः नष्ट कर दिया।

## बौद्ध कला की यात्राएँ

बहुत हद तक बौद्ध कला भारत की सबसे प्रारंभिक धार्मिक कला है। किन्तु पहले इसमें बुद्ध की मूर्ति नहीं थी क्योंकि आर्यों का मूर्ति-पूजा या मन्दिर-पूजा में विश्वास नहीं था। सम्भवतः ग्रीस-बौद्ध कला ने बुद्ध की मूर्तियाँ प्रचलित की हैं। इस प्रकार, विदेशियों से बौद्ध धर्म के सम्पर्क का प्रथम प्रभाव यह हुआ कि कला में नए-नए परिवर्तन हुए। हिन्दचीन ने बुद्ध के सिर के चारों ओर "तेज" चित्रित किया। सीथियनों ने उन्हें यूरोपीय ढंग पर बैठे हुए चित्रित किया। यह मूर्ति द्वारावती (स्याम) तथा जावा में पायी जाती है। भारत की कलाओं के पूरे प्रसार के चिन्ह साँचे में ढली हुई बुद्ध की मूर्तियों में मिलते हैं। शीघ्र ही इन मूर्तियों के दो भिन्न-भिन्न रूप हो गए। एक में बुद्ध का दाहिना कन्धा खुला हुआ है अर्थात् उस पर कोई वस्त्र नहीं है। यह मूर्ति पहले अमरावती में, बाद में लंका में और फिर डोंग-डुआंग और द्वारावती में, चम्पा

तथा स्याम में पायी जाती है। मथुरा कला में बुद्ध के दोनों कन्धे ढंके हुए हैं और यह चीन तक गई है। प्रारंभिक जावा-कला में बुद्ध अदृश्य वस्तु पहने हुए हैं जिसमें उनका एक कन्धा खुला हुआ है। इस मूर्ति की चिकनाई अलोरा की मूर्तियों की चिकनाई से मिलती है। जावा में एक अन्य प्रकार की बौद्ध कला मिलती है जो बंगाल-कला से सम्बन्धित है। स्याम में बुद्ध को यूरोपीय ढंग पर बैठे हुए या गुप्त-ढंग पर खड़े हुए दिखाया गया है और वे स्वच्छ वस्त्र पहने हुए हैं। ब्रेयन कला में उनकी मूर्तियों में आँखे बन्द हैं और उनके चेहरे पर गम्भीर मुस्कराहट है। स्याम में एक दूसरे प्रकार की मूर्तियाँ मिलती हैं जिनमें बुद्ध की भौहों के किनारे पर दो रेखाएँ दिखाई गई हैं। इसमें उनका मुख संकीर्ण है और मुख के दोनों कोने ऊपर की ओर हैं। चीन में एक अन्य प्रकार की बुद्ध की मूर्ति पायी जाती है। इस मूर्ति के शरीर पर कपड़े जैसी जो क्रमवार मोटी परतें हैं और जो बाद में पतली हो गई हैं (अलग-अलग परतों में) वे किसी पतली वस्तु का संकेत करती हैं। यह परतें अजन्ता कला जैसी हैं। जापान में भी इस प्रकार की मूर्ति पायी जाती है। मध्य एशिया तथा तिब्बत में उक्त दोनों प्रकार की बुद्ध-मूर्तियाँ पायी जाती हैं। महायान के प्रभाव के फलस्वरूप इनमें बहुत सजावट आ गई और देवता भी अनेक हो गए। यह कला बंगाल में बहुत विकसित हुई थी और यह बंगाल से नैपाल और तिब्बत में गई थी। अन्ततः अमरावती कला में प्रारंभिक मूर्तियों में दो शैलियाँ साथ-साथ प्रचलित दिखाई देती हैं। किसी में बुद्ध स्वयं दिखाए गए हैं और किसी में उनको नहीं दिखाया गया है और उनका खाली आसन दिखाया गया है जो उनकी उपस्थिति का द्योतक है। अजन्ता की कला ओर महायान-कला की भावना में संस्कृत साहित्य और नाट्यकला की भावना है। इनमें बौद्ध धर्म की मौलिकता नहीं है।

बौद्ध कला का विकास इस बात का दूसरा संकेत है कि जीवन के अन्यान्य अंगों की भाँति कला भी धर्म पर आधारित है। कलाकारों ने अध्यात्मिक उद्देश्य एवं विचारधाराओं से प्रभावित होकर मानों अपनी कलात्मक कृतियों में अपनी आत्मा को ही चित्रित कर दिया है।

एशिया पर भारत के साँस्कृतिक विजय की यह संक्षिप्त कहानी है। यह विजय मुख्यतः वैयक्तिक उद्यम के फलस्वरूप हुई थी। आज पुनः भारत को वैसा ही नेतृत्व करने का अवसर दिया गया है। "जावा कम्बोडिया, बर्मा तथा स्याम के मन्दिरों की दीवालों पर चित्रित बौद्ध तथा हिन्दू धर्मों की

पौराणिक कथाएँ, परम्परागत संगीत, नृत्य और नाट्य (जो आज भी बाली द्वीप में प्रचलित है), बाली और नैपाल में बौद्ध तथा ब्राह्मण पंडितों द्वारा उनके धार्मिक त्योहारों का संयुक्त रूप में मनाया जाना, तिगुनी सील में बन्द ताड़ के पत्तों की हस्तलिपियाँ (जो तिब्बती मठों के पुस्तकालयों का कोष है), इन समस्त देशों में कला और कारीगरी के जीवित स्वरूप, धार्मिक या कलात्मक प्रतीकवाद वर्तमान और अतीतकाल की ग्रन्थियाँ हैं। भारत से प्राप्त सामान्य साँस्कृतिक सम्पत्ति के प्रति जागरूकता में, कम से कम, सम्पूर्ण एशिया एक है।"[१] एक बात पूर्णतः स्पष्ट है कि धार्मिक या अध्यात्मिक प्रेरणा ने ही भारत का उसके एशियाई पड़ोसियों से सम्पर्क कराया और इसमें भी भारत सदैव अपनी संस्कृति के आधार–आत्मा पर जोर देने–के प्रति सच्चा रहा। जब इस आधार का, चाहे कितने ही नए रूप में, पुनः उत्थान किया जायगा तब भारतवर्ष पुनः महान् हो जायगा।

१—"दि पेजएन्ट आफ इन्डियाज हिस्ट्री,"—पृष्ठ ४०६

# दसवाँ अध्याय

## दक्षिण की संस्कृति

अभी तक हमने मुख्यतः उत्तरीभारत की संस्कृति के इतिहास का वर्णन किया है, यद्यपि इसके मुख्य तत्व उत्तर और दक्षिण में सामान्य हैं। यहाँ हम दक्षिण की संस्कृति के कुछ मुख्य--मुख्य तत्वों पर अलग से प्रकाश डाल रहे हैं।

कहा जाता है कि प्राग्ऐतिहासिक काल में द्रविड़ भाषा भाषी लोग भारत के अधिक भाग में फैले हुए थे। आर्यों ने, जो भारतीय रंगमंच पर बाद में आये, उन्हें भारत के अन्य भागों से निष्कासित कर के केवल दक्षिण में सीमित कर दिया। आर्यों के साथ–साथ द्राविड़ों ने हमारी धार्मिकता, सामाजिक ढाँचा, रस्मरिवाज और कला में महत्वपूर्ण योगदान किए हैं।

एक परम्परागत कथा है कि आर्य ऋषि अगस्त ने विन्धा पर्वत को पार किया था और दक्षिण में आर्य संस्कृति का प्रसार किया था। आज भी दक्षिण में उनकी बड़ी भक्ति की जाती है। द्राविड़ों ने आर्यों के भण्डार में महान् साहित्य व कला, उद्योग व व्यवसाय में साहसिक भावना, काल्पनकि और गंभीर भावपूर्ण धार्मिक भावना, गणित सम्बन्धी भिन्न–भिन्न विषयों की महान् विचारशक्ति, सुविकसित ग्राम–संघठन,–वृहत और सुन्दर मन्दिरों के नगर और व्यापक सिंचाई की व्मवस्था, कांसा, ताँबा और पत्थरों पर अंकित सुन्दर शिल्पकला आदि का महत्वपूर्ण योगदान किया है। सुदूर दक्षिण के पांड्य, चोल, केरल, पल्लव तथा दक्षिण के आन्ध्र और चालुक्य आदि विभिन्न ऐतिहासिक द्राविड़ राज्यों में से प्रत्येक भारतीय संस्कृति में अपनी–अपनी अपार सम्पत्ति छोड़ गए हैं।

अशोक के बाद दक्षिण आन्ध्रों के हाथ में चला गया जिन्होंने बंगाल की खाड़ी तथा अरब सागर के बीच में एक प्रमुख राज्य स्थापित किया और वहां लगभग ४५० वर्षों तक (ई० पू० २२५ वर्ष से ईसवी सन् २२५ तक) राज्य किया। इनकी आदि निवास–भूमि गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच स्थित तेलगू प्रदेश थी। इन्हीं में सतवाह्न लोग मिल गये थे जिन्होंने

ईसा के पूर्व प्रथम या द्वितीय शताब्दी में पश्चिमी दक्षिण में एक राज्य क़ायम किया था। इनके राजाओं की उपाधि "सतकर्णी" थी। सतवाहनों के बाद आन्ध्र लोग आए। इनके बाद वकतक राजवंश आया जिसका स्थान छठवीं शताब्दी में चालुक्यों ने लिया। आन्ध्रों के राज्य के दक्षिणी और पूर्वी भागों में उनके स्थान पर पल्लव लोग आ गए।

आन्ध्रों ने मुख्यतः संस्कृत को संरक्षण दिया। कहा जाता है कि इस राजवंश में हाला नामक एक राजा हुए हैं जो बहुत बड़े कवि थे। इन्होंने महराष्ट्री भाषा में प्रेम पर ७०० छन्दों की एक कविता लिखी थी। हाला के मंत्रियों में से एक ने संस्कृत प्राकृत व्याकरण तथा दूसरे ने "वृहत कथा" नामक लोक-कथाओं का एक संग्रह लिखा था। आन्ध्र राज्य-काल की प्रमुख विशेषता सहिष्णुता थी और उस समय जैन धर्म और बौद्ध धर्म दोनों का ही खूब प्रसार हुआ था। इसकाल में मन्दिर भी बनवाए गए थे, यद्यपि ईसवी सन् की चौथी या पाँचवी शताब्दी से पहले का कोई भी मन्दिर इस समय भारत में कहीं भी जीवित नहीं है। बौद्ध स्मारक अवश्य ही जीवित हैं जिन्होंने हमें साँची, अमरावती तथा अजन्ता की कलाएँ दी हैं। अस्तु, भारत की कलात्मक प्रतिभा ने सर्वप्रथम दक्षिणी भारत में व्यापक स्तर पर अपना प्रदर्शन किया था। इन कलाओं पर पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं परन्तु साँची की कला के विषय में कुछ और भी बताया जा सकता है।

प्रारंभिक बौद्ध परम्परा स्तूप या गुफा में केन्द्रित थी और ये बौद्धों की पूजा के मुख्य पात्र थे। साँची (भोपाल) में वृहत स्तूप के अतिरिक्त निचली पहाड़ी मन्दिरों, मठों और स्तूपों के भग्नावशेषों से भरी हुई है। अशोक ने इस कलात्मक स्थान को संभवतः इसलिए चुना था क्योंकि उसकी पत्नी देवी का जन्म विदिसा (भिलसा) में हुआ था जो साँची से ५ मील पर स्थित है। मुख्य स्तूप के चारों ओर चार सुन्दर तोरण (मुखद्वार) खुदे हुए हैं। उनके ही कारण सांची को इतनी ख्याति मिली है। ये तोरण पूर्णतया शिल्पों से आच्छादित हैं। इनमें न केवल बौद्ध या अन्य कथाएँ ही अंकित हैं वरन् तत्कालीन लौकिक जीवन भी चित्रित हैं। इन शिल्पों में तत्कालीन आन्ध्रजगत के नगर, ग्राम एवं जंगल जीवित (चित्रित) हैं। इन शिल्पों में नैतिकता के साथ-साथ यथार्थता है जो इनकी मुख्य विशेषता है।

पश्चिमी घाटों में चट्टानों को काट कर बनाई गई गुफाओं के रूप में एक अन्य प्रकार की धार्मिक इमारतें देखने को मिलती हैं। इस काल में

भज, कोर्डेन, अजन्ता, बेदसा, नासिक तथा कार्ली में इस प्रकार की गुफाओं का निर्माण हुआ था। ईसवी सन् की चौथी शताब्दी से हमारे सामने अलोरा (हैदराबाद) की गुफाएँ (मठें) आयीं जिनमें से अधिकांश ब्राह्मण-पूजा-प्रणाली की हैं। चट्टानों को काटकर बनाए गए इस प्रकार के मन्दिरों और मठों की संख्या १२०० से ऊपर है जिनमें से अधिकाँश 'पश्चिमी घाटों' में स्थित हैं। अजन्ता की कला का, जो गुफा-निर्माण का वैचित्र्य है, पहले ही वर्णन किया जा चुका है।

सुदूर दक्षिण (प्राचीन तामिल देश) में ईसवी सन् की छठीं शताब्दी में अर्थात् बहुत समय बाद में मन्दिरों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। किन्तु इसकाल तक के मन्दिर आदि भी अब खण्डहरों और मरुभूमि में परिणत हो गए हैं। मदुरा, तंजोर, रामेश्वरम, श्रीरंगम, चिदाम्बरम आदि मन्दिरों का निर्माण बहुत समय बाद में हुआ था। किन्तु देश के साहित्य में इसकाल के लोगों के साँस्कृतिक कार्यों की झलक देखने को मिलती है।

तामिल राज्यों (चोल, पांण्डव आदि) का चौथी शताब्दी (ई० पू०) के एक संस्कृत व्याकरण के ग्रन्थ में सर्वप्रथम उल्लेख आया है। बाद में कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पाँड्य मोतियों (रत्नों) का उल्लेख किया गया है। अशोक के लेखों में इनका बहुत विस्तृत वर्णन किया गया। इस समय तक जैन तथा बौद्ध धर्म दक्षिण में भी पहुँच गये थे। एक दर्जन द्रविड़ भाषाओं में तामिल, मलयालम, कन्नड़ और तेलगू भाषाएँ मुख्य हैं। दक्षिण के संभवतः अधिकाँश लोग तेलगू बोलते हैं। तामिल भाषा सबसे प्राचीन और पवित्र है। इसमें पाली के अतिरिक्त भारत की प्राचीनतम देशीय भाषाओं का साहित्य भी है। प्राचीनतम ग्रन्थ ब्राह्मी लिपि में हैं जो पूरे भारत में प्रचलित थी।

सबसे प्राचीन ग्रन्थ प्रसिद्ध व्याकरण तोलकप्पियम (तामिम) है जो अब तक जीवित है। यह ग्रन्थ ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी का है और यह सूचनाओं का विस्तृत भण्डार है। इसमें हम न केवल व्याकरण का अपितु धर्म, प्रेम, युद्ध-कला, सामाजिक व नागरिक सिद्धांत, व्यवसाय (पेशों) एवं भूगोल का भी अध्ययन करते हैं। इसमें आदिम जातियों के सरदारों, राजाओं, मछुहों, मोती निकालने वालों, नाविक, नमक और नाव बनाने वालों, शंख की वस्तुएँ बनाने वालों तथा विदेशों में व्यापार करने वाले व्यवसायियों का वर्णन किया गया है। जाति-प्रथा जैसी किसी

व्यवस्था का भी बीजारोपण हो रहा था। यद्यपि दक्षिण में अभी तक ब्राह्मण, शूद्र और अछूत तीन मुख्य जातियाँ हैं। तामिल लोगों का वृहत साहित्यिक केन्द्र मदुरा था। वृहत् साहित्यिक विचारधाराएँ या संगम विकसित हो गए थे और उन्हीं से हमें भी लेख प्राप्त हुए हैं। इन्होंने हमको अन्य वस्तुओं में २००० काव्य, १० लम्बे ग्राम गीत तथा अन्य छोटे ग्रन्थ दिए हैं। इस साहित्य के मुख्य विषय वीर-पूजा, प्रेम, कर्तव्यपरायणता, नैतिक शिक्षा, सम्मान एवं मैत्री हैं। उदाहरणार्थ आठ उत्तम पद्य-समुदायों से तीन में प्रेम-काव्य हैं, एक में वीररस की ३०० कविताएँ तथा ५० गीत हैं और अन्य चार में मदुरा तथा अन्य नगरों एवं राजाओं की प्रशंसा की कविताएँ हैं।

संस्कृत के समान तामिल की भी अपनी दो प्रसिद्ध वीर-गाथाएँ हैं। इनमें से प्रथम सिलप्पादिकारम तथा द्वितीय मणिमेकलई है जो प्रथम वीरगाथा का परिणाम है। एक 'चेरा' राजा के भिक्षु भाई ने ईसवी सन् की प्रथम या द्वितीय शताब्दी में प्रथम वीरगाथा की रचना की थी। इसका विषय एक सुन्दर नर्तकी के प्रति एक धनी युवक का प्रेम तथा पत्नी का आत्म-त्याग और दुःख है। दूसरी वीरगाथा में विभिन्न मतों के गुरुओं से धार्मिक सत्यों को सुनने के बाद उस व्यापारी की पुत्री द्वारा बौद्ध धर्म ग्रहण किए जाने का वर्णन है। इन वीरगाथाओं में प्राचीन तामिलों की सामाजिक एवं कलात्मक स्थिति का सविस्तार वर्णन मिलता है। कुछ विद्वानों ने इन्हीं के आधार पर दक्षिण भारतीय संगीत की एक व्यवस्था निकाली है। अन्य उत्तम ग्रन्थों में ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी के प्रतिभावान कवि "तिरुवल्लुँवर" का "कुराल" हैं जो बहुत प्रसिद्ध और जनप्रिय है। इसमें दो-दो पंक्तियों के छन्द हैं और इसमें महान तामिल कवि ने अपने समय की नैतिकता तथा समस्या पर प्रकाश डाला है। आज दिन तक दक्षिण के बच्चे इसी ग्रन्थ के छन्दों को कन्ठस्थ करके अपनी शिक्षा प्रारम्भ करते हैं।

ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी में तामिल राज्यों पर पल्लवों का ग्रहण लग गया और इन्होंने तामिल राज्यों का पतन कर दिया। परन्तु तामिल राज्यों की सत्ता का नवीं शताब्दी में उस समय पूर्णतः अन्त हो गया जब कि चालुक्यों ने उनको विजय किया। इस पूरे काल में तामिलों की सांस्कृतिक प्रगति जारी रही और उनके बड़े-बड़े व्यापारी समीपवर्ती सभी समुद्रों में अपने जहाज लेकर गए। इन्होंने लंका, इंडोनेसिया, मलाया

जैसे पूर्वी देशों तथा रोम साम्राज्य तक के पश्चिमी देशों से व्यापार किया। विदेशों में जिन वस्तुओं की सबसे अधिक माँग थी उनमें मोती, पीपल और फिरोजा मुख्य हैं। बाइबिल ( पुराने टेस्टामेन्ट ) की कहानियों में हाथीदाँत, मोर, सोना, जवाहरात आदि ऐसे व्यावसायिक वस्तुओं का वर्णन है जो मूलतः भारतीय थे। इनमें ओफीर नामक एक बड़े बन्दरगाह का उल्लेख है जहाँ से महान सोलोमन के पास उनके मित्र टायर के राजा द्वारा भेजा गया कुछ व्यापारिक माल गया था। यह बन्दरगाह सम्भवतः बम्बई का सफीर (सोप्रा) था। मोर और मुरब्बों के हिद नाम और चावल, अदरख और पीपल के अँग्रेजी नाम तामिल भाषा से निकले हुए हैं। ईसा के पूर्व छठवीं शताब्दी में मिस्र की समाधियों (क़ब्रों) में स्थित लाशों को तामिल से गए हुए रुई के वस्त्रों से सजाया गया था और बैबीलोन के मन्दिर तथा अन्य स्थान तामिल की बहुमूल्य लकड़ियों से सजाए गए थे। अस्तु पश्चिम के साथ व्यापक स्तर पर बहुत भारतीय व्यापार होता था। रोम साम्राज्य की स्थापना के बाद यह व्यापार कम हो गया। दक्षिण में खुदाई करने पर रोम के बड़े-बड़े सिक्के प्राप्त हुए हैं जिनमें से एक में ब्रिटेन पर रोम के विजय की घटना अंकित है। तामिल कविताओं में भारतीय बन्दरगाहों पर आने वाले इन 'यवन' जहाजों तथा उनके नाविकों की कहानियाँ मिलती हैं। इनमें से कुछ यहाँ के राजाओं के यहाँ वेतन पर रहते थे और भारत के साथ पूर्व की बहुमूल्य वस्तुओं के बदले में शराब और सोना के विनिमय का व्यापार करते थे। अस्तु, भारत के बन्दरगाहों में विदेशी व्यापारियों की बस्तियाँ थीं जो अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलते थे। मिस्र में पाई गई ईसवी सन् की द्वितीय शताब्दी के भोज-पत्र की एक हस्तलिपि में एक यवन स्त्री की उस साहसिक यात्रा का वर्णन है जिसमें उसका जहाज भारत के पश्चिमी तट से कुछ दूर पर दुर्घटनाग्रस्त हो गया था। इस कहानी में भारतीय राजाओं को जो भाषा बोलते हुए दिखाया गया है वह कन्नड़ थी।

रोम तथा अन्य देशों को जाने वाली भारतीय व्यापारिक वस्तुओं के लिए सिकन्दरिया मुख्य द्वार था। इसलिए वहाँ के निवासी अधिकाधिक संख्या में भारत में आ गए थे। परन्तु, यहूदी, सीरियावासी, ईरानी, ईसाई और अरब आदि अन्य देशों के (उपनिवेश बनाने वाले) निवासी भी भारत में आए थे। अरब लोग मालाबार (मद्रास) की मोप्ला सम्प्रदाय के बीज

हैं। आज भी मालाबार के गिरजाघरों की पूजा-पाठ की भाषा सीरियाई है। चीन और भारत के बीच भी जहाजों का यातायात हुआ था। चूंकि भारत का यह भाग १४वीं शताब्दी तक विदेशी आक्रमण से स्वतन्त्र रहा इसलिए यहाँ की संस्कृति शुद्ध रही और इसमें आर्य तत्व भी सुरक्षित रहे।

संक्षेप में, प्राचीन काल में दक्षिण के निवासी पूर्णतः सुखी एवं समृद्ध थे और उनकी सामुदायिक सरकारें थीं (मेगस्थनीज ने यहाँ जनसभाओं के विषय में सुना था) जो उनकी इच्छाओं का सम्मान करती थीं। भूमि व्यवस्था या तो रैयतवाड़ी ढंग की थी अथवा भूमि कुछ जमींदारों के एक समूह की संयुक्त सम्पत्ति होती थी। इस प्रकार के गाँवों में निर्वाचित सभाएँ होती थीं और कई समुदाय मिलकर पूरे समुदाय का प्रबन्ध करते थे। स्त्रियाँ भी इन संस्थाओं (सभाओं) की, जो सामुदायिक जीवन के अंगों का प्रबन्ध करती थीं, सदस्य हो सकती थीं। अस्तु, इस प्रदेश के निवासियों को अपने विचारों को प्रकट करने के अनेक अवसर प्राप्त थे।

कला के क्षेत्र में मन्दिरों के निर्माण की कला बहुत प्रचलित हो गई थी और बहुत से मन्दिर बन गए थे और अनेक बनते जा रहे थे। इन मन्दिरों के लिए भूमि और धन का दान देने में राजाओं और प्रजा में स्पर्धा चलती थी। इन मन्दिरों ने जब मन्दिर-नगरों का रूप धारण कर लिया तब इनकी व्यवस्था भी पेंचदार हो गई। इनमें व्यवस्थापक, कोषाध्यक्ष, पुरोहित, संगीतज्ञ, गायक, बत्ती जलाने वाले, धोबी, कुम्हार ज्योतिषी, रसोइया, माली, बढ़ई, नापित, अभिनेता, नर्तकी लड़कियाँ आदि हो गए। इन मन्दिरों से अनेक पाठशाला एवं विद्यालय आदि सम्बन्धित हो गए। गरीबों और ब्राह्मणों के भोजन तथा रोगियों की चिकित्सा के लिए धन (चन्दा) सुरक्षित रहते थे। सदैव रोशनी जलते रहने की व्यवस्था या दैनिक भोजन दान के लिए भी दान दिए जाते थे। दान में आभूषण भी दिए जाते थे। कहा जाता है कि प्रसिद्ध चोला मन्दिर के तंजोर देवता के मुकुट में ८५९ हीरे, ३०९ माणिक और ६६९ मोती हैं।

छठवीं शताब्दी तक अधिकांश स्थानों में बौद्धधर्म का अन्त हो चुका था। किन्तु जैन धर्म का दृढ़ प्रभुत्व था। नवीं शताब्दी तक हिन्दू धर्म ने अन्य समस्त धर्मों को पीछे कर दिया क्योंकि ७वीं से ९वीं शताब्दी तक अनेक ऋषियों न इसका प्रचार किया था। इसके फलस्वरूप सारी प्रजा शिव

और विष्णु की भक्त हो गई और इन दोनों देवताओं की स्तुति सर्वत्र होने लगी। अस्तु, हिन्दू धर्म का भक्ति-पंथ दक्षिण में बहुत प्रचलित हो गया। वैष्णव साधुओं या अयिवरों की संख्या १२ थी। इन मन्दिरों में आज भी उनके अनेक भजन (प्रबन्ध) गाए जाते हैं। इन साधुओं में नम्मलवर सबसे महान् थे। गोदा या अन्दल नामक एक महिला साधु भी थीं जो दक्षिण की मीरा के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे कृष्ण की उपासक थीं।

शैव साधुओं की संख्या ६३ थी। इनमें अप्पर, सम्बन्ध, सुन्दरमूर्ति और मणिक्कावाचक नामक चार साधु सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं।

तामिल साधु लोग प्रजा को उनकी अपनी भाषाओं में अपने मतों का प्रचार करते हुए प्रभावित कर रहे थे और संस्कृत के विद्वान लोग महाविद्यालयों और राजदरबारों के लोगों के मस्तिष्क पर अपना प्रभाव जमा रहे थे। रामायण तथा महाभारत जैसे भारतीय ग्रन्थों के अनुवाद किए जा रहे थे। आठवीं शताब्दी में सम्भवतः ईसवी सन् ७३८ में मलाबार में महान ऋषि और दार्शनिक शंकराचार्य का जन्म हुआ। परम्परा के अनुसार ८ वर्ष की आयु से उनका सन्यास-जीवन प्रारम्भ हो गया और उन्होंने १२ वर्ष की आयु में ही कई ग्रन्थ लिख डाले। इन्होंने समस्त भारतवर्ष का पर्यटन किया और वेदान्त दर्शन को प्रचलित किया। इन्होंने भारत के चार कोनों पर सन्यासियों के वृहत् हिन्दू केन्द्र स्थापित किए। कहा जाता है कि हिमालय में स्थित केदारनाथ में ३२ वर्ष की आयु में ही इनकी मृत्यु हो गई। शंकराचार्य ने उपनिषदों तथा बद्रायण के ब्राह्मण-सूत्रों पर टिप्पणियाँ लिखीं जो इनके ग्रन्थों में सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। शैव लोगों ने भी इनको अपना ऋषि मान लिया क्योंकि ये शिव तथा उनकी शक्ति के भी उपासक थे परन्तु वैष्णवों ने उनको नहीं स्वीकार किया। इनके बाद अन्य ऋषि प्रख्यात हुए जिनमें सर्वश्रेष्ठ रामानुज ११वीं शताब्दी में हुए। रामानुज ने ईश्वर को साकार और निराकार दोनों माना और इस बात पर जोर दिया कि ईश्वर की दया से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है और ईश्वर की भक्ति करने से ही यह दया उत्पन्न की जा सकती है। वे शंकर की भाँति इस जगत को मिथ्या नहीं मानते थे। इन्होंने भारत के भिन्न-भिन्न भागों में ७४ धर्म-देशों की स्थापना की थी जिनमें से प्रत्येक का एक प्रधान धर्माध्यक्ष होता था। दक्षिण में श्रीरंगम इनका प्रधान कार्यालय स्थापित किया गया था।

कला के क्षेत्र में द्राविड़ों की प्रतिभा ने बड़ा योगदान किया था। इनकी कलात्मक प्रतिभा विशेषतः एलोरा और एलिफेन्टा की गुफा–मन्दिरों तथा तंजोर और मदुरा आदि के मन्दिरों में चित्रित हैं। अलोरा में बौद्ध गुफाओं के अतिरिक्त १६ ब्राह्मणवादी गुफा–मन्दिर (१३ से २९ नं० तक) हैं। राम के वनबास, विष्णु के दस अवतार, कैलाश या शिव का स्वर्ग, रामेश्वर और सीता "स्नान" मुख्य उदाहरण हैं। हम यहाँ कैलाश मन्दिर का वर्णन करते हैं क्योंकि यह अद्‌भुत मन्दिर है और इसमें उस काल की अद्‌भुत निर्माण–कला चित्रित है। यह मन्दिर इस बात का द्योतक है कि भारतीय कलाकारों में साँचे में ढालने की कला का असाधारण विकास हो गया था। पर्सी ब्राउन ने कहा है कि "पत्थर की चट्टानों को काट कर इतने बड़े-बड़े मन्दिरों के निर्माण करने का दूसरे लोगों ने स्वप्न तक नहीं देखा था। यह मन्दिर हमारी उच्चतम धार्मिक भावना के सर्वश्रेष्ठ उदाहरणों में से एक है। इस मन्दिर के चार भाग हैं। एक मुख्य मन्दिर, दूसरा मुखद्वार, तीसरा नन्दी मन्दिर और चौथा आँगन के चारों ओर बने हुए मठ हैं। इस मन्दिर के स्तम्भ पूरे मन्दिर के सजावट के प्रतीक हैं। इस प्रकार कैलाश मन्दिर एक ही पत्थर के बने हुए मन्दिर का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण है और इसकी मूर्तियों तथा सजावट में जो शिल्पकला चित्रित है उसने इसे भारतीय कलात्मक प्रतिभा का प्रथम नमूना (उदाहरण) बना दिया है। एलिफेन्टा के मन्दिर अलोरा के मन्दिरों से मिलते–जुलते हैं। मुख्य मन्दिर और एलोरा के "डुमार लेना" में बहुत सामंजस्य है। फिर भी यह अपनी शिल्पकला तथा अन्य बातों में एलोरा के अन्य मन्दिरों से उत्कृष्ट है। इस मन्दिर में शिव को उनके विभिन्न रूपों में चित्रित किया गया है। एक में उनका 'अर्धनारी' का चित्र है जो शिव और पार्वती (पुरुष और नारी शक्तियों) का प्रतीक है। ये दोनों मन्दिर–समूह साँचे में ढालने की कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। शिव महेशमूर्ति के तीन मुख की मूर्ति सबसे सुन्दर और आकर्षक है। कलाकार ने अपनी इन कृतियों में अपने आत्मा को ही चित्रित कर दिया है। इन कृतियों में शैवधर्म का पूरा सार चित्रित है।

तंजोर का शिव–मन्दिर भी एक शानदार इमारत है और इसे 'चोलों' ने बनवाया था। इस मन्दिर में दूसरी चीजों के अलावा २५०×५०० फ़ीट का एक आँगन और १९० फ़ीट ऊँचा एक स्तम्भ प्रमुख है। इसकी दीवालों पर सुन्दर–सुन्दर मूर्तियाँ और दृश्य चित्रित हैं जो कलाकार की सर्वोत्कृष्ट

कल्पना-शक्ति के प्रतीक हैं। यह द्रविड़ शिल्पकारों की सुन्दरतम कृति है। एक अन्य प्रसिद्ध मन्दिर मदुरा का है जिसमें शिव तथा उनकी पत्नी मीनाक्षी हैं। इस मन्दिर का बाहरी क्षेत्र ८५०×७२५ फ़ीट का है और इसमें ४ वृहत मुखद्वार हैं। इसमें कई द्वार तथा कई आंगन हैं और १६५×१२० फ़ीट का एक कुण्ड भी है। इसमें सहस्त्र स्तम्भों का एक वृहत आँगन है। इसमें देवी-देवताओं, पशुओं आदि के जो चित्र हैं वे जीवित प्रतीत होते हैं और ये भारतीय कलात्मक प्रतिभा के द्योतक हैं।

इस प्रकार दक्षिण की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति आर्य तथा द्रविड़ तत्वों का सम्मिश्रण है और इसमें हमारी साँस्कृतिक सम्पत्ति के विशेष तत्व हैं। विशेषतः द्राविड़ों ने हमें शंकराचार्य जैसे महान् दार्शनिक, नृत्य और मन्दिरों के रूप में कलात्मक प्रतिभा के उत्कृष्ट उपज तथा शैव-धर्म में एक महान् सम्प्रदाय दिये हैं। इसके अतिरिक्त भारत पर मुसलमानों के आक्रमण के प्रारंभिक काल में उन्होंने आर्य चिन्तन तथा संस्कृति की उपजों को सुरक्षित रक्खा। इस प्रकार उन्होंने हमारी संस्कृति के आधारों को आने वाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रक्खा।

---